



शमशा

अप्रैल-जून १९६५
वर्ष ४६] [अंक ४-६



प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक
डा० अशोक कुमार सिंह

सह-सम्पादक
डा० शिवप्रसाद

वर्ष ४६

अप्रैल-जून, १९९५

अंक ४-६

प्रस्तुत अङ्क में

प्रो० सागरमल जैन के निम्न आलेख प्रकाशित किये जा रहे हैं :-

- | | |
|---|-------------------------------------|
| १. मन - शक्ति, स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण | ९७ - १२२ |
| २. जैन दर्शन में नैतिकता की सापेक्षता | १२३ - १३३ |
| ३. सदाचार के शाश्वत मानदण्ड | १३४ - १४९ |
| ४. जैन धर्म का लेश्या-सिद्धान्त : एक विमर्श | १५० - १६५ |
| ५. प्रज्ञापुरुष, पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय की दृष्टि में
बुद्ध व्यक्ति नहीं प्रक्रिया
पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नये प्रकाशन
जैन जगत् | १६६ - १६९
१७० - १७६
१७७ - १७९ |

वार्षिक शुल्क
चालीस रुपये

एक प्रति
दस रुपये

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हों ।

मन -- शक्ति, स्वरूप और साधना : एक विश्लेषण

- प्रो० सागरमल जैन

नैतिक-साधना में मन का स्थान

भारतीय-दर्शन जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति की समस्या की एक विस्तृत व्याख्या है। भारतीय चिन्तकों ने केवल मुक्ति की उपलब्धि के हेतु आचार-मार्ग का उपदेश ही नहीं दिया वरन् उन्होंने यह बताने का भी प्रयास किया कि बन्धन और मुक्ति का मूल कारण क्या है? अपने चिन्तन और अनुभूति के प्रकाश में उन्होंने इस प्रश्न का जो उत्तर पाया वह है -- "मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।" जैन, बौद्ध और हिन्दू दर्शनों में यह तथ्य सर्वसम्मत रूप से ग्राह्य है। जैनदर्शन में बन्धन और मुक्ति की दृष्टि से मन की अपार शक्ति मानी गई है। बन्धन की दृष्टि से वह पौराणिक ब्रह्मास्त्र से भी बढ़कर भयंकर है। कर्मसिद्धान्त का एक विवेचन है कि आत्मा के साथ कर्म-बन्ध की क्या स्थिति है ? मात्र काययोग से मोहनीय जैसे कर्म का बन्ध उत्कृष्ट रूप में एक सागर की स्थिति तक का हो सकता है। वचनयोग मिलते ही पच्चीस सागर की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध हो सकता है। घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नासिका के मिलने पर पचास सागर का, चक्षु के मिलते ही सौ सागर का और श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कान के मिलते ही हजार सागर तक का बन्ध हो सकता है। किन्तु यदि मन मिल गया तो मोहनीयकर्म का बन्ध लाख और करोड़ सागर को भी पार करने लगा। सत्तर क्रोडाक्रोड़ी (करोड़ * करोड़) सागरोपम का सर्वोत्कृष्ट मोहनीयकर्म "मन" मिलने पर ही बाँधा जा सकता है।

यह है मन की अपार शक्ति ! इसलिए मन को खुला छोड़ने से पहले विचार करना होगा कि कहीं वह आत्मा को किसी गहन गर्त में तो नहीं धकेल रहा है ? जैन विचारणा में मन मुक्ति के मार्ग का प्रथम प्रवेश द्वार भी है। वहाँ केवल समनस्क प्राणी ही इस मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। अमनस्क प्राणियों को तो इस राजमार्ग पर चलने का अधिकार ही प्राप्त नहीं है। सम्यक्दृष्टित्व केवल समनस्क प्राणियों को हो सकता है और वे ही अपनी साधना में मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् महावीर कहते हैं कि "मन के संयमन से एकाग्रता आती है जिससे ज्ञान (विवेक) प्रगट होता है और उस विवेक से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है और अज्ञान (मिथ्यात्व) समाप्त हो जाता है।"¹ इस प्रकार अज्ञान का निवर्तन और सत्य दृष्टिकोण की उपलब्धि, जो मुक्ति (निर्वाण) की अनिवार्य शर्त है, बिना मनःशुद्धि के सम्भव ही नहीं है। जैन विचारणा में मन मुक्ति का आवश्यक हेतु है। शुद्ध संयमित मन निर्वाण का हेतु बनता है जबकि अनियन्त्रित मन ही अज्ञान अथवा मिथ्यात्व का

कारण होकर प्राणियों के बन्धन का हेतु है। इसी तथ्य को आचार्य हेमचन्द्र ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं, "मन का निरोध हो जाने पर कर्म (बन्धन) में पूरी तरह रुक जाते हैं क्योंकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है लेकिन जो पुरुष मन का निरोध नहीं करता है उसके कर्मों (बन्धन) की अभिवृद्धि होती रहती है।"²

बौद्धदर्शन में चित्त, विज्ञप्ति आदि मन के पर्यायवाची शब्द हैं। तथागत बुद्ध का कथन है "सभी प्रवृत्तियों का आरम्भ मन से होता है, मन की उनमें प्रधानता है वे प्रवृत्तियाँ मनोमय हैं। जो सदोष मन से आचरण करता है, भाषण करता है उसका दुःख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे -- रथ का पहिया घोड़े के पैरों का अनुगमन करता है।³ किन्तु जो स्वच्छ (शुद्ध) मन से भाषण एवं आचरण करता है उसका सुख वैसे ही अनुगमन करता है जैसे साथ नहीं छोड़ने वाली छाया।"⁴ कुमार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक अहितकारी और सन्मार्ग पर लगा हुआ चित्त सर्वाधिक हितकारी है।⁵ अतः जो इसका संयम करेंगे वे मार के बन्धन से मुक्त हो जाएँगे।⁶ लंकावतारसूत्र में कहा गया है, "चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है।"⁷

वेदान्त परम्परा में भी सर्वत्र यही दृष्टिकोण मिलता है कि जीवात्मा के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् में कहा गया है कि "मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। उसके विषयासक्त होने पर बन्धन है और उसका निर्विषय होना ही मुक्ति है।"⁸ गीता में कहा गया है -- "इन्द्रियाँ मन और बुद्धि ही इस वासना के वास स्थान कहे गये हैं⁹ और यह वासना इनके द्वारा ही ज्ञान को आवृत कर समाप्त हो गई है ऐसे ब्रह्मभूत योगी को ही उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।"¹⁰

आचार्य शंकर भी विवेक चूड़ामणि में लिखते हैं कि मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की। मन ही देहादि विषयों में राग को बाँधता है और फिर विषयों में विरसता उत्पन्न कर मुक्त कर देता है। इसीलिए इस जीव के बन्धन और मुक्ति के विधान में मन ही कारण है। रजोगुण से मलिन हुआ मन बन्धन का हेतु होता है तथा रज-तम से रहित शुद्ध सात्त्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।"¹¹

यद्यपि उपरोक्त प्रमाण यह तो बता देते हैं कि मन बन्धन और मुक्ति का प्रबलतम एकमात्र कारण है। लेकिन फिर भी यह प्रश्न अभी अनुत्तरित ही रह जाता है कि मन ही को क्यों बन्धन और मुक्ति का कारण माना गया है ?

जैन साधना में मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण क्यों ?

यदि हम इस प्रश्न का उत्तर जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से खोजने का प्रयास करें, तो हमें ज्ञात होता है कि जैन तत्त्वमीमांसा में जड़ और चेतन ये दो मूल तत्त्व हैं। शेष आस्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा तो इन दो मूल तत्त्वों के सम्बन्ध की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। शुद्ध आत्मा तो बन्धन का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मानसिक, वाचिक और कायिक

क्रियाओं (योग) का अभाव है दूसरी ओर मनोभाव से पृथक् कायिक और वाचिक कर्म एवं जड़कर्म परमाणु भी बन्धन के कारण नहीं होते हैं। बन्धन के कारण राग, द्वेष, मोह आदि मनोभाव आत्मिक अवश्य माने गये हैं, लेकिन इन्हें आत्मगत इसलिए कहा गया है कि बिना चेतन-सत्ता के ये उत्पन्न नहीं होते हैं। चेतन सत्ता रागादि के उत्पादन का निमित्त कारण अवश्य है लेकिन बिना मन के वह रागादि भाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसीलिए यह कहा गया कि मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। दूसरे हिन्दू, बौद्ध और जैन आचार-दर्शन इस बात में एकमत हैं कि बन्धन का कारण अविद्या (मोह) है। अब प्रश्न यह है कि इस अविद्या का वास स्थान कहाँ है ? आत्मा को इसका वास स्थान मानना भ्रान्ति होगी, क्योंकि जैन और वेदांत दोनों परम्पराओं में आत्मा का स्वभाव तो सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यात्व, मोह किंवा अविद्या आत्माश्रित हो सकते हैं लेकिन वे आत्म-गुण नहीं हैं और इसलिए उन्हें आत्मगत मानना युक्तिसंगत नहीं है। अविद्या को जड़ प्रकृति का गुण मानना भी भ्रान्ति होगी क्योंकि वे ज्ञानाभाव ही नहीं वरन् विपरीत ज्ञान भी है। अतः अविद्या का वासस्थान मन को ही माना जा सकता है जो जड़ और चैतन्य के संयोग से निर्मित है। अतः उसी में अविद्या निवास करती है उसके निवर्तन पर शुद्ध आत्मदशा में अविद्या की सम्भावना किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती।

मन आत्मा के बन्धन और मुक्ति में किस प्रकार अपना भाग अदा करता है, इसे निम्न रूपक से समझा जा सकता है। मान लीजिए, कर्मावरण से कुंठित शक्ति वाला आत्मा उस आँख के समान है जिसकी देखने की क्षमता क्षीण हो चुकी है। जगत एक श्वेत वस्तु है और मन ऐनक है। आत्मा को मुक्ति के लिए जगत के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करना है लेकिन अपनी स्वशक्ति के कुंठित होने पर वह स्वयं तो सीधे रूप में यथार्थ ज्ञान नहीं पा सकता। उसे मन रूपी चश्मे की सहायता आवश्यक होती है लेकिन यदि ऐनक रंगीन काँचों का हो तो वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान न देकर भ्रान्त ज्ञान ही देता है। उसी प्रकार यदि मन रागद्वेषादि वृत्तियों से दूषित (रंगीन) है तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं देता और हमारे बन्धन का कारण बनता है। लेकिन यदि मन रूपी ऐनक निर्मल है तो वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान देकर हमें मुक्त बना देता है। जिस प्रकार ऐनक में बिना किसी चेतन आँख के संयोग के देखने की कोई शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार जड़ मन-परमाणुओं में भी बिना किसी चेतन आत्मा के संयोग के बन्धन और मुक्ति की कोई शक्ति नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार ऐनक से देखने वाले नेत्र हैं लेकिन विकास या रंगीनता का कार्य ऐनक में है, उसी प्रकार बन्धन के कारण रागद्वेषादि विकार न तो आत्मा के कार्य हैं और न जड़ तत्त्व के कार्य हैं वरन् मन के ही कार्य हैं।

जैन विचारणा के समान गीता में भी यह कहा गया है कि इन्द्रियों, मन और बुद्धि इस "काम" के वासस्थान हैं। इनके आश्रयभूत होकर ही यह काम ज्ञान को आच्छादित कर जीवात्मा को मोहित किया करता है।¹² ज्ञान आत्मा का कार्य है लेकिन ज्ञान में जो विकार आता है वह आत्मा का कार्य न होकर मन का कार्य है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए, जहाँ गीता में विकार या काम का वासस्थान मन को माना गया है वहाँ जैन विचारणा में विकार या कामादि का वासस्थान आत्मा को ही माना गया है। वे मन के कार्य अवश्य हैं लेकिन उनका

वास स्थान आत्मा ही है। जैसे रंगीन देखना चश्मे का कार्य है, लेकिन रंगीनता का ज्ञान तो चेतना में ही होगा।

सम्भवतः यहाँ शंका होती है कि जैन विचारणा में तो अनेक बद्ध प्राणियों को अमनस्क माना गया है, फिर उनमें जो अविद्या या मिथ्यात्व है वह किसका कार्य है ? इसका उत्तर यह है कि जैन विचारणा के अनुसार प्रथम तो सभी प्राणियों में भाव मन की सत्ता स्वीकार की गई है। दूसरे श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप यदि मन को सम्पूर्ण शरीरगत मानें¹³ तो वहाँ देव्य मन भी है, लेकिन वह केवल ओघसंज्ञा है। दूसरे शब्दों में, उन्हें केवल विवेकशक्ति-विहीन मन (irrational mind) प्राप्त है। जैन शास्त्रों में जो समनस्क और अमनस्क प्राणियों का भेद किया गया है वह दूसरी विवेकसंज्ञा (Faculty of reasoning) की अपेक्षा से है। जिन्हें शास्त्र में समनस्क प्राणी कहा गया है उनसे तात्पर्य विवेक शक्ति युक्त प्राणियों से है। जो अमनस्क प्राणी कहे गये हैं उनमें विवेकक्षमता नहीं होती है। वे न तो सुदीर्घभूत की स्मृति रख सकते हैं और न भविष्य की और न शुभाशुभ का विचार कर सकते हैं। उनमें मात्र वर्तमानकालिक संज्ञा होती है और मात्र अंध वासनाओं (मूल प्रवृत्तियों) से उनका व्यवहार चालित होता है। अमनस्क प्राणियों में सत्तात्मक मन तो है, लेकिन उनमें शुभाशुभ का विवेक नहीं होता है, इसी विवेकाभाव की अपेक्षा से ही उन्हें अमनस्क कहा जाता है।

जैन विचारणा के अनुसार नैतिक विकास का प्रारम्भ विवेक क्षमतायुक्त मन की उपलब्धि से ही होता है जब तक विवेक क्षमतायुक्त मन प्राप्त नहीं होता है तब तक शुभाशुभ का विभेद नहीं किया जा सकता और जब तक शुभाशुभ का ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक नैतिक विकास की सही दिशा का निर्धारण और नैतिक प्रगति नहीं हो पाती है। अतः विवेकक्षमता युक्त (Rational mind) नैतिक प्रगति की अनिवार्य शर्त है। ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारकों ने भी बौद्धिक क्षमता या शुभाशुभ विवेक को नैतिक प्रगति के लिए आवश्यक माना है। फिर भी जैन विचारणा का उनसे प्रमुख मतभेद यह है कि वे नैतिक उत्तरदायित्व (Moral responsibility) और नैतिक प्रगति (Moral progress) दोनों के लिए विवेकक्षमता को आवश्यक मानते हैं, जबकि जैन विचारक नैतिक प्रगति के लिए तो विवेक आवश्यक मानते हैं लेकिन नैतिक उत्तरदायित्व के लिए विवेक शक्ति को आवश्यक नहीं मानते हैं। यदि कोई प्राणी विवेकाभाव में भी अनैतिक कर्म करता है तो जैन दृष्टि से वह नैतिक रूप से उत्तरदायी होगा। क्योंकि (1) प्रथमतः, विवेकाभाव ही प्रमत्तता है और यही अनैतिकता का कारण है। अतः विवेकपूर्वक कार्य नहीं करने वाला नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं है। (2) दूसरे, विवेक शक्ति तो सभी चेतन आत्माओं में है, जिसमें वह प्रसुप्त है, उस प्रसुप्ति के लिए भी वे स्वयं ही उत्तरदायी हैं। (3) तीसरे अनेक प्राणी तो ऐसे हैं जिनमें विवेक का प्रगटन हो चुका था, जो कभी समनस्क या विवेकवान प्राणी थे, लेकिन उन्होंने उस विवेकशक्ति का यथार्थ उपयोग न किया। फलस्वरूप उनमें वह विवेकशक्ति पुनः कुण्ठित हो गई। अतः ऐसे प्राणियों को नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं माना जा सकता।

सूत्रकृतांग में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है -- कई जीव ऐसे भी हैं, जिनमें जरा-सी तर्कशक्ति, प्रज्ञाशक्ति या मन या वाणी की शक्ति नहीं होती है। वे मूढ़ जीव भी सबके प्रति समान दोषी हैं और उसका कारण यह है कि सब योनियों के जीव एक जन्म में संज्ञा (विवेक) वाले होकर अपने किये हुए कर्मों के कारण दूसरे जन्म में असंज्ञी (विवेक शून्य) बनकर जन्म लेते हैं। अतएव विवेकवान् होना या न होना अपने ही किये हुए कर्मों का फल होता है इससे विवेकाभाव की दशा में जो कुछ पाप-कर्म होते हैं उनकी जवाबदारी भी उनकी ही है।

यद्यपि जैन तत्त्वज्ञान में जीवों के अव्यवहार-राशि की जो कल्पना की गई है, उस वर्ग के जीवों के नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या सूत्रकृतांग के इस आधार पर नहीं हो सकती। क्योंकि अव्यवहार-राशि के जीवों को तो विवेक कभी प्रगटित ही नहीं हुआ वे तो केवल इस आधार पर ही उत्तरदायी माने जा सकते हैं कि उनमें जो विवेकक्षमता प्रसुप्त है वे उसका प्रगटन नहीं कर रहे हैं।

एक प्रश्न यह भी है कि यदि नैतिक प्रगति के लिए "सविवेक मन" आवश्यक है तो फिर जैन विचारणा के अनुसार वे सभी प्राणी जिनमें ऐसे "मन" का अभाव है, नैतिक प्रगति के पथ पर कभी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। जैन विचारणा के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि "विवेक" के अभाव में भी कर्म का बन्ध और भोग तो चलता है, लेकिन फिर भी जब विचारक-मन का अभाव होता है तो कर्म वासना-संकल्प से युक्त होते हुए भी वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होते हैं और कर्मों के वैचारिक संकल्प से युक्त नहीं होने के कारण बन्धन में तीव्रता भी नहीं होती है। इस प्रकार नवीन कर्मों का बन्ध होते हुए भी तीव्र बन्ध नहीं होता है और पुराने कर्मों का भोग चलता रहता है। अतः नदी-पाषाण न्याय के अनुसार संयोग से कभी न कभी वह अवसर हो जाता है, जब प्राणी विवेक को प्राप्त कर लेता है और नैतिक विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

मन का स्वरूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन आचारदर्शन का केन्द्र बिन्दु है। जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों की परम्परायें मन को नैतिक जीवन के सन्दर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि मन का स्वरूप क्या है और वह नैतिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करता है इस तथ्य पर भी विचार करें।

मन के स्वरूप के विश्लेषण की प्रमुख समस्या यह है कि क्या मन भौतिक तत्त्व है अथवा आध्यात्मिक तत्त्व है? बौद्ध विचारणा मन को चेतन तत्त्व मानती है जबकि सांख्यदर्शन और योगवासिष्ठ में उसे जड़ माना गया है।¹⁴ गीता सांख्य विचारणा के अनुरूप मन को जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न और त्रिगुणात्मक मानती है।¹⁵

जैन विचारणा में मन के भौतिक पक्ष को "द्रव्यमन" और चेतन पक्ष को "भावमन" कहा गया है।¹⁶ विशेषावश्यकभाष्य में बताया गया है कि द्रव्यमन मनोवर्णा नामक परमाणुओं

से बना हुआ है। यह मन का भौतिक पक्ष (Physical or structural aspect of mind) है। साधारण रूप से इसमें शरीरस्थ सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अंग आ जाते हैं। मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचना तन्त्र में प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा भावमन है। दूसरे शब्दों में, इस रचना तन्त्र को आत्मा से मिली हुई चिन्तन-मनरूप चैतन्य शक्ति ही भाव मन (Psychical aspect of mind) है।

यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न यह भी उठता है कि द्रव्यमन और भावमन शरीर के किस भाग में स्थित है। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ गोम्मतसार के जीवकाण्ड में द्रव्यमन का स्थान हृदय माना गया है जबकि श्वेताम्बर आगमों में ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है कि मन शरीर के किस विशेष भाग में स्थित है। पं० सुखलाल जी अपने गवेषणापूर्ण अध्ययन के आधार पर यह मानते हैं कि -- "श्वेताम्बर परम्परा का समग्र स्थूल शरीर ही द्रव्यमन का स्थान इष्ट है।" जहाँ तक भावमन के स्थान का प्रश्न है उसका स्थान आत्मा ही है। क्योंकि आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है अतः भावमन का स्थान भी सम्पूर्ण शरीर ही सिद्ध होता है।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो बौद्ध-दर्शन में मन को हृदयप्रदेशवर्ती माना गया है। जो दिगम्बर सम्प्रदाय की द्रव्यमन सम्बन्धी मान्यता के निकट आता है। जबकि सांख्य परम्परा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निकट है। पं० सुखलाल जी लिखते हैं कि सांख्य आदि दर्शनों की परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं माना जा सकता क्योंकि उस परम्परा के अनुसार मन सूक्ष्मलिङ्ग शरीर में, जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान समस्त स्थूल शरीर ही मानना उचित जान पड़ता है। अतएव उस परम्परा के अनुसार मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर ही सिद्ध होता है।

जैन विचारणा मन के आध्यात्मिक और भौतिक दोनों स्वरूपों को स्वीकार करके ही संतोष नहीं मान लेती वरन् इन भौतिक और आध्यात्मिक पक्षों के बीच गहन सम्बन्ध को भी स्वीकार कर लेती है। जैन नैतिक विचारणा में बन्धन के लिए अमूर्त चेतन आत्मतत्त्व और जड़ कर्मतत्त्व का जो सम्बन्ध स्वीकार किया गया है उसकी व्याख्या के लिए उसे मन के स्वरूप का यही सिद्धान्त अभिप्रेत हो सकता है। अन्यथा जैन विचारणा की बन्धन और मुक्ति की व्याख्या ही असम्भव होगी। वेदान्तिक अद्वैतवाद, बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के दर्शनों में बन्धन का कारण अन्य तत्त्व को नहीं माना जाता। अतः वहाँ सम्बन्ध की समस्या ही नहीं आती। सांख्यदर्शन में आत्मा को कूटस्थ मानने के कारण वहाँ भी पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की कोई समस्या नहीं रहती। इसलिए वे मन को एकांत जड़ अथवा चेतन मानकर अपना काम चला लेते हैं। लेकिन जड़ और चेतन के मध्य सम्बन्ध मानने के कारण जैन-दर्शन के लिए मन को उभयरूप मानना आवश्यक है। जैन विचारणा में मन अपने उभयात्मक स्वरूप के कारण ही जड़ कर्मवर्गणा के पुद्गल और चेतन आत्म-तत्त्व के मध्य योजक कड़ी बन गया है। मन की शक्ति चेतना में है और उसका कार्य-क्षेत्र भौतिक जगत् है। जड़ पक्ष की ओर से वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है और अपने चेतन-पक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है। इस प्रकार जैन दार्शनिक मन के द्वारा आत्मतत्त्व और जड़तत्त्व के मध्य अपरोक्ष सम्बन्ध बना

देते हैं और इस सम्बन्ध के आधार पर ही अपनी बन्धन की धारणा को सिद्ध करते हैं। मन, जड़ जगत् और चेतन जगत् के मध्य अवस्थित एक ऐसा माध्यम है जो दोनों स्वतन्त्र सत्ताओं में सम्बन्ध बनाये रखता है, जब तक यह माध्यम रहता है तभी तक जड़ एवं चेतन जगत् में पारस्परिक प्रभावकता रहती है, जिसके कारण बन्धन का क्रम चलता रहता है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए पहले मन के इन उभय पक्षों को अलग-अलग करना होता है। इनके अलग-अलग होने पर मन की प्रभावक शक्ति क्षीण होने लगती है और अन्त में मन का ही विलय होकर निर्वाण की उपलब्धि हो जाती है और निर्वाण दशा में इस उभय स्वरूप मन का ही अभाव होने से बन्धन की सम्भावना नहीं रहती।

उभयात्मक मन के माध्यम से जड़ और चेतन में पारस्परिक प्रभावकता (Interaction) मान लेने मात्र से समस्या का पूर्ण समाधान नहीं होता। प्रश्न यह है कि बाह्य भौतिक घटनायें एवं क्रियायें आत्मतत्त्व को कैसे प्रभावित करती हैं जबकि दोनों स्वतन्त्र हैं। यदि उभयरूप मन को उनका योजक तत्त्व मान भी लिया जाय तो इससे समस्या का निराकरण नहीं होता। यह तो समस्या का खिसकाना मात्र है। जो सम्बन्ध की समस्या भौतिक जगत् और आत्मतत्त्व के मध्य थी, उसे केवल द्रव्य मन और भाव मन के नाम से मनोजगत् में स्थानान्तरित कर दिया गया है। द्रव्य मन और भाव मन कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं यह समस्या अभी बनी हुई है। चाहे यह सम्बन्ध की समस्या भौतिक और आध्यात्मिक स्तर पर हो, चाहे जड़ कर्म परमाणु और चेतन आत्मा के मध्य हो अथवा मन के भौतिक और अभौतिक स्तरों पर हो, समस्या अवश्य बनी रहती है। उसके निराकरण के दो ही मार्ग हैं। या तो भौतिक और आध्यात्मिक संज्ञाओं में से किसी एक के अस्तित्व का निषेध कर दिया जाए अथवा उनमें एक प्रकार का समानान्तरवाद मान लिया जाए। जैन दार्शनिकों ने पहिले विकल्प में यह दोष पाया कि यदि केवल चेतन तत्त्व की सत्ता मानी जाए तो समस्त भौतिक जगत् को मिथ्या कहकर अनुभूति के तथ्यों को ठुकरा देना होगा, जैसा कि विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों तथा अद्वैतवादी आचार्य शंकर ने किया। यदि दूसरी ओर चेतन की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध कर मात्र जड़तत्त्व की सत्ता को ही माना जाये तो भौतिकवाद में आना होगा, जिसमें नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहेगा। डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, "जैन दार्शनिकों ने मन और शरीर का द्वैत स्वीकार किया और इसलिए वे समानान्तरवाद को भी उसकी समस्त सीमाओं सहित स्वीकार कर लेते हैं। वे चैतसिक और अचैतसिक तथ्यों में एक पूर्व संस्थापित सामंजस्य (Pre-established harmony) स्वीकार करते हैं।"¹⁷ लेकिन जैन विचारणा में द्रव्यमन और भावमन के मध्य केवल समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य ही नहीं मानती है। व्यावहारिक दृष्टि से तो जैन विचारक उनमें वास्तविक सम्बन्ध भी मानते हैं। समानान्तरवाद या पूर्व संस्थापित सामंजस्य तो केवल पारमार्थिक या द्रव्यार्थिक दृष्टि से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जैन दार्शनिक तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में जड़ और चेतन में नितान्त भिन्नता मानते हुए भी अनुभव के स्तर पर या मनोवैज्ञानिक स्तर पर उनमें वास्तविक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेते हैं। डॉ० कलघटगी लिखते हैं कि "जैन चिन्तकों ने मानसिक भावों को जड़ कर्मों से प्रभावित होने के सन्दर्भ में एक परिष्कारित समानान्तरवाद प्रस्तुत किया है -- उनका समानान्तरवाद

व्यक्ति के मन और शरीर के सम्बन्ध में एक प्रकार का मनोभौतिक समानान्तरवाद है-- यद्यपि वे मानसिक और शारीरिक तथ्यों के मध्य होने वाली पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करता है -- जैन दृष्टिकोण जड़ और चेतन के मध्य रहे हुए तात्त्विक विरोध के समन्वय का एक प्रयास है जो वैयक्तिक मन एवं शरीर के मध्य पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया की धारणा की संस्थापना करता है।¹⁸

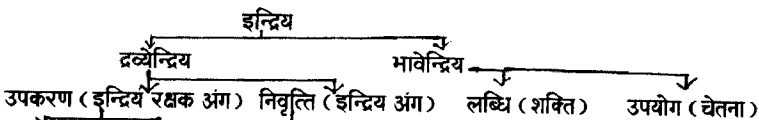
इस प्रकार हमने यह देखा कि जैन विचारणा में बाह्य भौतिक जगत् से सम्बन्धित "मन" का द्रव्यात्मक पक्ष किस प्रकार अपने भावात्मक पक्ष को प्रभावित करता है और "जीवात्मा" को बन्धन में डालता है। लेकिन मन जिन साधनों के द्वारा बाह्य जगत् से सम्बन्ध बनाता है वे तो इन्द्रियाँ हैं, मन की विषय-सामग्री तो इन्द्रियों के माध्यम से आती है। बाह्य जगत् से मन का सीधा सम्बन्ध नहीं होता है वरन् वह इन्द्रियों के माध्यम से जागतिक विषयों से अपना सम्बन्ध बनाता है। मन जिस पर कार्य करता है वह सारी सामग्री तो इन्द्रिय-संवेदन से प्राप्त होती है। अतः मन के कार्य के सम्बन्ध में विचार करने से पहले हमें इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी थोड़ा विचार कर लेना होगा।

मन के साधन-इन्द्रियाँ

इन्द्रिय शब्द के अर्थ की विशद विवेचना न करते हुए यहाँ हम केवल यही कहें कि "जिन-जिन कारणों की सहायता से जीवात्मा विषयों की ओर अभिमुख होता है अथवा विषयों के उपभोग में समर्थ होता है वे इन्द्रियाँ हैं।" इस अर्थ को लेकर गीता या जैन आगमों में कहीं कोई विवाद नहीं पाया जाता। यद्यपि कुछ विचारकों की दृष्टि में इन्द्रियाँ "मन" का साधन या "करण" मानी जाती हैं।

इन्द्रियों की संख्या

जैन दृष्टि में इन्द्रियाँ पाँच मानी जाती हैं -- (1) श्रोत्र, (2) चक्षु, (3) घ्राण, (4) रसना और (5) स्पर्शन। सांख्य विचारणा में इन्द्रियों की संख्या 11 मानी गई है -- 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ और 1 मन। जैन विचारणा में 5 ज्ञानेन्द्रियाँ तो उसी रूप में मानी गई हैं किन्तु मन नोइन्द्रिय (Quasi sense-organ) कहा गया है। पाँच कर्मेन्द्रियों की तुलना -- उनकी 10 बल की धारणा में वाक्बल, शरीरबल एवं श्वासोच्छ्वास बल से की जा सकती है।¹⁹ बौद्ध ग्रन्थ विशुद्धिमार्गो में इन्द्रियों की संख्या 22 मानी गई है।²⁰ बौद्ध विचारणा में उक्त पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सुख-दुःख तथा शुभ एवं अशुभ आदि को भी इन्द्रिय माना गया है। जैन दर्शन में इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं -- (1) द्रव्येन्द्रिय (2) भावेन्द्रिय। इन्द्रियों की आंगिक संरचना (Structural aspect) द्रव्येन्द्रिय कहलाती है और आन्तरिक क्रिया शक्ति (Functional aspect) भावेन्द्रिय कहलाती है। इनमें से प्रत्येक के पुनः उप विभाग किये गये हैं जिन्हें संक्षेप में निम्न सारिणी से समझा जा सकता है :



इन्द्रियों के व्यापार या विषय

(1) श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है -- जीव का शब्द, अजीव का शब्द और मिश्र शब्द। कुछ विचारक 7 प्रकार के शब्द मानते हैं। (2) चक्षु इन्द्रिय का विषय रंग-रूप है। रंग काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत, पाँच प्रकार का है। शेष रंग इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। (3) घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है। गन्ध दो प्रकार की होती है -- सुगन्ध और दुर्गन्ध। (4) रसना का विषय रसास्वादन है। रस 5 प्रकार के होते हैं -- कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और कषाय। (5) स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभूति है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं -- उष्ण, शीत, रूक्ष, चिकना, हल्का, भारी, कर्कश और कोमल। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के 3, चक्षुरिन्द्रिय के 5 घ्राणेन्द्रिय के 2, रसनेन्द्रिय के 5 और स्पर्शेन्द्रिय के 8, कुल मिलाकर पाँचों इन्द्रियों के 23 विषय होते हैं।

जैन विचारणा में सामान्य रूप से यह माना गया है कि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जीव उपरोक्त विषयों का सेवन करता है। गीता में कहा गया है यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के आश्रय से ही विषयों का सेवन करता है।²¹

ये विषय-भोग आत्मा को बाह्यमुखी बना देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयों की ओर आकर्षित होती है और इस प्रकार आत्मा का आन्तरिक समत्व भंग हो जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि, "साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श इन पाँचों प्रकार के कामगुणों (इन्द्रिय-विषयों) को सदा के लिए छोड़ दे²² क्योंकि ये इन्द्रियों के विषय आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं।

इन्द्रियाँ अपने विषयों से किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करती हैं और आत्मा को उन विषयों से कैसे प्रभावित करती हैं इसकी विस्तृत व्याख्या प्रज्ञापनासूत्र और अन्य जैन ग्रन्थों में मिलती है। विस्तार भय से हम इस विवेचना में जाना नहीं चाहते हैं। हमारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि जिस प्रकार द्रव्यमन भावमन को प्रभावित करता है और भावमन से आत्मा प्रभावित होता है। उसी प्रकार द्रव्य-इन्द्रिय (Structural aspect of sense organ) का विषय से सम्पर्क होता है और वह भाव-इन्द्रिय (Functional and Psychic aspect of sense organ) को प्रभावित करती है और भाव-इन्द्रिय आत्मा की शक्ति होने के कारण उससे आत्मा प्रभावित होता है। नैतिक चेतना की दृष्टि से मन और इन्द्रियों के महत्त्व तथा स्वरूप के सम्बन्ध में यथेष्ट रूप से विचार कर लेने के पश्चात् यह जान लेना उचित होगा कि मन और इन्द्रियों का ऐसा कौन सा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसके कारण उन्हें नैतिक चेतना में इतना स्थान दिया जाता है।

वासनाप्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व

मन और इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सम्पर्क होता है। इस सम्पर्क से कामना उत्पन्न होती है। यही कामना या इच्छा नैतिकता की परिसीमा में आने वाले व्यवहार का आधारभूत प्रेरक तत्त्व है। सभी भारतीय आचार-दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि वासना,

कामना या इच्छा से प्रसूत समस्त व्यवहार ही नैतिक विवेचना का विषय है। स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों में वासना, कामना, कामगुण, इच्छा, आशा, लोभ, तृष्णा, आसक्ति आदि शब्द लगभग समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जिनका सामान्य अर्थ मन और इन्द्रियों की अपने विषयों की "चाह" से है। बन्धन का कारण इन्द्रियों का उनके विषयों से होने वाला सम्पर्क या सहज शारीरिक क्रियाएँ नहीं है, वरन् वासना है। नियमसार में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामान्य व्यक्ति के उठना-बैठना, चलना-फिरना, देखना-जानना आदि क्रियाएँ वासना से युक्त होने के कारण बन्धन का कारण है जबकि केवली (सर्वज्ञ या जीवन्मुक्त) की ये सभी क्रियाएँ वासना या इच्छारहित होने के कारण बन्धन का कारण नहीं होतीं। इच्छा या संकल्प (परिणाम) पूर्वक किए हुए वचन आदि कार्य ही बन्धन के कारण होते हैं। इच्छारहित कार्य बन्धन के कारण नहीं होते।²³

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जैन आचार-दर्शन में वासनात्मक तथा ऐच्छिक व्यवहार ही नैतिक निर्णय का प्रमुख आधार है। जैन नैतिक विवेचना की दृष्टि से वासना (इच्छा) को ही समग्र जीवन के व्यवहार क्षेत्र का चालक तत्त्व कहा जा सकता है। पाश्चात्य आचार-दर्शन में जीववृत्ति (want) क्षुधा (Appetite), इच्छा (Desire) अभिलाषा (wish) और संकल्प (will) में अर्थ वैभिन्य एवं क्रम माना गया है। उनके अनुसार इस समग्र क्रम में चेतना की स्पष्टता के आधार पर विभेद किया जा सकता है। जीववृत्ति चेतना के निम्नतम स्तर वनस्पति जगत् में पायी जाती है, पशुजगत् में जीववृत्ति के साथ-साथ क्षुधा का भी योग होता है लेकिन चेतना के मानवीय स्तर पर आकर तो जीववृत्ति से संकल्प तक के सारे ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः जीववृत्ति से लेकर संकल्प तक के सारे स्तरों में वासना के मूल तत्त्व में मूलतः कोई अन्तर नहीं है, अन्तर है, केवल चेतना में उसके बोध का। दूसरे शब्दों में, इनमें मात्रात्मक अन्तर है, गुणात्मक अन्तर नहीं है। यही कारण है भारतीय दर्शन में इस क्रम के सम्बन्ध में कोई विवेचना उपलब्ध नहीं होती है। भारतीय साहित्य में वासना, कामना, इच्छा और तृष्णा आदि शब्द तो अवश्य मिलते हैं और वासना की तीव्रता की दृष्टि से इनमें अन्तर भी किया जा सकता है। फिर भी साधारण रूप से समानार्थक रूप में ही उनका प्रयोग हुआ है। भारतीय-दर्शन की दृष्टि से वासना को जीववृत्ति (want) तथा क्षुधा (Appetite), कामना को इच्छा (Desire), इच्छा को अभिलाषा (Desire) और तृष्णा को संकल्प (will) कहा जा सकता है। पाश्चात्य विचारक जहाँ वासना के केवल उस रूप को, जिसे हम संकल्प (will) कहते हैं, नैतिक निर्माण का विषय बनाते हैं, वहाँ भारतीय चिन्तन में वासना के वे रूप भी जिनमें वासना की चेतना का स्पष्ट बोध नहीं है, नैतिकता की परिसीमा में आ जाते हैं।

चाहे वासना के रूप में अन्ध ऐन्द्रिक अभिवृत्ति हो या मन का विमर्शात्मक संकल्प हो, दोनों के ही मूल में वासना का तत्त्व निहित है और यही वासना प्राणीय व्यवहार की मूलभूत प्रेरक है। व्यवहार की दृष्टि से वासना (जीववृत्ति) और तृष्णा (संकल्प) में अन्तर यह है कि पहली स्पष्ट रूप से चेतना के स्तर पर नहीं होने के कारण मात्र अन्ध प्रवृत्ति होती है जबकि दूसरी चेतना के स्तर पर होने के कारण विमर्शात्मक होती है। चेतना में इच्छा के

स्पष्ट बोध का अभाव इच्छा का अभाव नहीं है। इसीलिये जैन और बौद्ध विचारणा ने पशु आदि चेतना के निम्न स्तरों वाले प्राणियों के व्यवहार को भी नैतिकता की परिमीमा में माना है। वहाँ पाशविक स्तर पर पायी जाने वाली वासना की अन्ध प्रवृत्ति ही नैतिक निर्णयों का विषय बनती है।

वासना क्यों होती है ?

गणधरवाद में कहा गया है कि जिस प्रकार देवदत्त अपने महल की खिड़कियों से बाह्य जगत् को देखता है उसी प्रकार प्राणी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से अपना सम्पर्क बनाता है।²⁴ कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया गया है इसलिए जीव बाह्य विषयों की ओर ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं।²⁵

इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर कुछ विषय अनुकूल और कुछ विषय प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। अनुकूल विषयों की ओर पुनः-पुनः प्रवृत्त होना और प्रतिकूल विषयों से बचना यही वासना है। जो इन्द्रियों को अनुकूल होता है वही सुखद और जो प्रतिकूल होता है वही दुःखद है।²⁶ अतः सुखद की ओर प्रवृत्ति करना और दुःखद से निवृत्ति चाहना, यही वासना की चालना के दो केन्द्र हैं, जिनमें सुखद विषय धनात्मक तथा दुःखद विषय ऋणात्मक चालना के केन्द्र हैं। इस प्रकार वासना, तृष्णा या कामगुण ही समस्त व्यवहार का प्रेरक तत्त्व है। भारतीय चिन्तन में व्यवहार के प्रेरक के रूप में जिस वासना को स्वीकारा गया है वही वासना पाश्चात्य फ्रायडीय मनोविज्ञान में "काम" और मेकडूगल के प्रयोजनवादी मनोविज्ञान में हार्मी (harme) या अर्ज (urge) अथवा मूल प्रवृत्ति कही जाती है। पाश्चात्य और भारतीय परम्पराएँ इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि प्राणीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व वासना, कामना या तृष्णा है। इनके दो रूप बनते हैं -- राग और द्वेष। राग धनात्मक और द्वेष ऋणात्मक है। आधुनिक मनोविज्ञान में कर्ट लेविन ने इन्हें क्रमशः आकर्षण शक्ति (positive valence) और विकर्षण शक्ति (negative valence) कहा है।

व्यवहार की चालना के दो केन्द्र -- सुख और दुःख

अनुकूल विषय की ओर आकर्षित होना और प्रतिकूल विषयों से विकर्षित होना यह इन्द्रिय स्वभाव है, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि इन्द्रियों क्यों अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति रखना चाहती हैं। यदि इसका उत्तर मनोविज्ञान के आधार पर देने का प्रयास किया जाए तो हमें मात्र यही कहना होगा कि अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है जिसे हम सुख-दुःख का नियम भी कहते हैं। मनोविज्ञान प्राणी जगत् की इस नैसर्गिक वृत्ति का विश्लेषण तो करता है लेकिन यह नहीं बता सकता है कि ऐसा क्यों है ?

यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक तत्त्व है। जैन दार्शनिक भी प्राणीय व्यवहार के चालक तत्त्व के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करते हैं। मन एवं इन्द्रियों के माध्यम से इसी नियम के अनुसार प्राणीय व्यवहार का संचालन

होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है। जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना-पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दुःख। इस प्रकार वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का निर्धारण करने लगते हैं।

अपने अनुकूल विषयों की ओर आकृष्ट होना और उन्हें ग्रहण करना यह इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मन के अभाव में यह इन्द्रियों की अन्ध प्रवृत्ति होती है लेकिन जब इन्द्रियों के साथ मन का योग हो जाता है तो इन्द्रियों में सुखद अनुभूतियों की पुनः-पुनः प्राप्ति की तथा दुःखद अनुभूति से बचने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है।

बस यहीं इच्छा, तृष्णा या संकल्प का जन्म होता है। जैनाचार्यों ने इच्छा की परिभाषा करते हुए लिखा है-- मन और इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की पुनः प्राप्ति की प्रवृत्ति ही इच्छा है।²⁷ अथवा इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा का अतिरेक ही इच्छा है।²⁸ यह इन्द्रियों की सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की लालसा या इच्छा ही तीव्र होकर आसक्ति या राग का रूप ले लेती है। दूसरी ओर दुःखद अनुभूतियों से बचने की अभिवृत्ति घृणा एवं द्वेष का रूप ले लेती है। भगवान महावीर ने कहा है, "मनोज्ञ, प्रिय या अनुकूल विषय ही राग का कारण होते हैं और प्रतिकूल या अमनोज्ञ विषय द्वेष का कारण होते हैं।"²⁹

सुखद अनुभूतियों से राग और दुःखद अनुभूतियों से द्वेष तथा इस राग-द्वेष से अन्यान्य कषाय और अशुभ वृत्तियाँ कैसे प्रतिफलित होती हैं, इसे उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन्द्रिय और मन के उनके विषयों को सेवन करने की लालसा जागृत होती है। सुखद अनुभूति को पुनः-पुनः प्राप्त करने की इच्छा और दुःख से बचने की इच्छा से ही राग या आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। कामगुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्ति उत्पन्न होती है। इस आसक्ति से प्राणी मोह या जड़ता के समुद्र में डूब जाता है। कामगुण (इन्द्रियों के विषयों) में आसक्ति होकर जीव क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, घृणा, हास्य, भय, शोक तथा स्त्री, पुरुष और नपुसंक भाव की वासनाएँ आदि अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों को उत्पन्न करता है और उन भावों की पूर्ति के प्रयास में अनेक रूपों (शरीरों) को धारण करता है।

इस प्रकार इन्द्रियों और मन के विषयों में आसक्ति प्राणी जन्म-मरण के चक्र में फँसकर विषयासक्ति से अवश, दीन, लज्जित और कर्णुणाजनक स्थिति को प्राप्त हो जाता है।³⁰

गीता में भी यही दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि "मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन किए जाने पर उन विषयों से सम्पर्क की इच्छा उत्पन्न होती है और उस सम्पर्क इच्छा से कामना या आसक्ति का जन्म होता है। आसक्ति विषयों की प्राप्ति में जब

बाधा उत्पन्न होती है तो क्रोध (घृणा, द्वेष) उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में मूढ़ता या अविवेक, अविवेक से स्मृतिनाश और स्मृतिनाश से बुद्धि विनष्ट हो जाती है और बुद्धि के विनष्ट होने से व्यक्ति विनाश की ओर चला जाता है।³¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब इन्द्रियों का अनुकूल या सुखद विषयों से सम्पर्क होता है तो उन विषयों में आसक्ति तथा राग के भाव जागृत होते हैं और जब इन्द्रियों का प्रतिकूल या दुःखद विषयों से संयोग होता है अथवा अनुकूल विषयों की प्राप्ति में कोई बाधा आती है तो घृणा या विद्वेष के भाव जागृत होते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख का प्रेरक नियम एक दूसरे रूप में बदल जाता है। जहाँ सुख का स्थान राग या आसक्ति का भाव ले लेता है और दुःख का स्थान घृणा या द्वेष का भाव ले लेता है। ये राग-द्वेष की वृत्तियाँ ही व्यक्ति के नैतिक अधःपतन एवं जन्म-मरण की परम्परा का कारण होती हैं। सभी भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। जैन विचारक कहते हैं, "राग और द्वेष ये दोनों ही कर्म-परम्परा के बीज हैं और यही कर्म-परम्परा के कारण हैं।"³² सभी भारतीय आचार-दर्शन इसे स्वीकार करते हैं। गीता में कहा गया है, "हे अर्जुन ! इच्छा (राग) और द्वेष के द्वन्द्व में मोह से आवृत होकर प्राणी इस संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।"³³ तथागत बुद्ध कहते हैं, "जिसने राग-द्वेष और मोह को छोड़ दिया है वही फिर माता के गर्भ में नहीं पड़ता।"³⁴

इस समग्र विवेचना को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं कि विविध इन्द्रियों एवं मन के द्वारा उनके विषयों के ग्रहण की चाह में वासना के प्रत्यय का निर्माण होता है। वासना का प्रत्यय पुनः अपने विधानात्मक एवं निषेधात्मक पक्षों के रूप में सुख और दुःख की भावनाओं को जन्म देता है। यही सुख और दुःख की भावनाएँ राग और द्वेष की वृत्तियों का कारण बन जाती हैं। यही राग-द्वेष की वृत्तियाँ क्रोध, मान, माया, लोभादि विविध प्रकार के अनैतिक व्यापार का कारण होती हैं। लेकिन इन सबके मूल में तो ऐन्द्रिक एवं मनोजन्म व्यापार ही हैं और इसलिये साधारण रूप से यह माना गया कि नैतिक आचरण एवं नैतिक विकास के लिए इन्द्रिय और मन की वृत्तियों का निरोध कर दिया जाए। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि इन्द्रियों पर काबू किये बिना रागद्वेष एवं कषायों पर विजय पाना सम्भव नहीं होता है।³⁵ अतः अब इस सम्बन्ध में विचार करना इष्ट होगा कि क्या इन्द्रिय और मन के व्यापारों का निरोध सम्भव है और यदि निरोध सम्भव है तो उसका वास्तविक रूप क्या है ?

इन्द्रिय निरोध : सम्भावना और सत्य

इन्द्रियों के विषय अपनी पूर्ति के प्रयास में किस प्रकार नैतिक पतन की ओर ले जाते हैं इसका सजीव चित्रण उत्तराध्ययनसूत्र के 32वें अध्ययन में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि-- रूप को ग्रहण करने वाली चक्षु इन्द्रिय है और रूप चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य है। प्रिय रूप, राग का और अप्रिय रूप द्वेष का कारण है।³⁶

जिस प्रकार दृष्टि के राग में आतुर होकर पतंगा मृत्यु पाता है, उसी प्रकार रूप में अत्यन्त आसक्त होकर जीव अकाल में ही मृत्यु पाते हैं।³⁷ रूप की आशा में पड़ा हुआ गुरुकर्मी, अज्ञानी जीव, त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है। परिताप

उत्पन्न करता है तथा पीड़ित करता है।³⁸ रूप में मूर्च्छित जीव उन पदार्थों के उत्पादन, रक्षण एवं व्यय में और वियोग की चिन्ता में लगा रहता है। उसे सुख कहाँ है ? वह संयोग काल में भी अतृप्त रहता है।³⁹ रूप में आसक्त मनुष्य को थोड़ा भी सुख नहीं होता, जिस वस्तु की प्राप्ति में उसने दुःख उठाया, उसके उपयोग के समय भी वह दुःख पाता है।⁴⁰

श्रोत्रेन्द्रिय शब्द की ग्राहक और शब्द श्रोत का ग्राह्य है। प्रिय शब्द राग का और अप्रिय शब्द द्वेष का कारण है।⁴¹ जिस प्रकार राग में गृद्ध बना हुआ मृग मुग्ध होकर शब्द में सन्तोषित न होता हुआ मृत्यु पा लेता है। उसी प्रकार शब्दों के विषय में अत्यन्त मूर्च्छित होने वाला जीव अकाल में ही नष्ट हो जाता है।⁴² शब्द की आसक्ति में पड़ा हुआ भारी कर्मी जीव, अज्ञानी होकर त्रस और स्थावर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, परिताप उत्पन्न करता है और पीड़ा देता है।⁴³

वह मनोहर शब्द वाले पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण एवं व्यय में तथा वियोग की चिन्ता में लगा रहता है, उनके संभोग काल के समय में भी अतृप्त ही बना रहता है, फिर उसे सुख कहाँ है।⁴⁴ तृष्णावश वह जीव घोरी, झूठ और कपट की वृद्धि करता हुआ अतृप्त ही रहता है, दुःख से नहीं छूट सकता।⁴⁵

नासिका गन्ध को ग्रहण करती है और गंध नासिका का ग्राह्य है। सुगन्ध राग का कारण है और दुर्गन्ध द्वेष का कारण है।⁴⁶ जिस प्रकार सुगन्ध में मूर्च्छित हुआ सर्प बाँबी से बाहर निकलकर मारा जाता है, उसी प्रकार गन्ध में अत्यन्त आसक्त जीव अकाल में ही मृत्यु पा लेता है।⁴⁷ सुगन्ध के वशीभूत होकर बालजीव अनेक प्रकार से त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है, उन्हें दुःख देता है।⁴⁸ वह जीव सुगन्धित पदार्थों की प्राप्ति, रक्षण, व्यय तथा वियोग की चिन्ता में ही लगा रहता है, अतः वह उनके भोगकाल में भी अतृप्त ही रहता है, फिर उसे सुख कहाँ⁴⁹ है। जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य है। मनपसन्द रस राग का कारण और मन के प्रतिकूल रस द्वेष का कारण कहा गया है।⁵⁰ जिस प्रकार मांस खाने के लालच में फँसा हुआ मच्छ काँटे में फँसकर मारा जाता है, उसी प्रकार रसों में अत्यन्त गृद्ध जीव अकाल में मृत्यु का ग्रास बन जाता है।⁵¹ उसे कुछ भी सुख नहीं होता, वह रसभोग के समय भी दुःख और क्लेश ही पाता है।⁵² इसी प्रकार अमनोज्ञ रसों में द्वेष करने वाला जीव भी दुःख परम्परा बढ़ाता है और क्लुषित मन से कर्मों का उपाजन करके उसके दुःखद फल को भोगता है।⁵³

शरीर स्पर्श को ग्रहण करता है और स्पर्श शरीर का ग्राह्य है। सुखद स्पर्श राग का तथा दुःखद स्पर्श द्वेष का कारण है।⁵⁴ जो जीव सुखद स्पर्शों में अति आसक्त होता है वह जंगल के तालाब के ठण्डे पानी में पड़े हुए मकर द्वारा ग्रसित भैसे की तरह अकाल में ही मृत्यु पाता है।⁵⁵ स्पर्श की आशा में पड़ा हुआ वह गुरुकर्मी जीव चराचर जीवों की अनेक प्रकार से हिंसा करता है, उन्हें दुःख देता है।⁵⁶ सुखद स्पर्शों में मूर्च्छित हुआ प्राणी उन वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षण, व्यय एवं वियोग की चिन्ता में ही घुला करता है। भोग के समय भी वह तृप्त नहीं

होता फिर उसके लिए सुख कहाँ ?⁵⁷ स्पर्श में आसक्त जीवों को किंचित् भी सुख नहीं होता है। जिस वस्तु की प्राप्ति क्लेश एवं दुःख से हुई उसके भोग के समय भी कष्ट ही मिलता है।⁵⁸

आचार्य हेमचन्द्र भी योगशास्त्र में कहते हैं कि स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी, रसनेन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली, घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर भ्रमर, चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंगा और श्रवणेन्द्रिय के वशीभूत होकर हरिण मृत्यु का ग्रास बनता है। जब एक-एक इन्द्रिय के विषयों में आसक्ति मृत्यु का कारण बनती है फिर भला पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन में आसक्त मनुष्य की क्या स्थिति होगी।⁵⁹

गीता में भी श्रीकृष्ण ने इन्द्रिय-दमन के सम्बन्ध में कहा है कि जिस प्रकार जल में वायु नाव को हर लेती है वैसे ही मन सहित विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से एक ही इन्द्रिय इस पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेने में समर्थ होती है। साधना में प्रयत्नशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को भी ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं और उसे साधना से च्युत कर देती हैं। अतः सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके तथा समाहित चित्त होकर मन को मेरे में लगा। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने अधिकार में हैं, वही प्रज्ञावान है। अन्यत्र पुनः कहा गया है कि साधक सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान के विनाश करने वाले इस काम का परित्याग करें।⁶⁰

धम्मपद में तथागत बुद्ध भी कहते हैं कि "जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में असंयत रहता है उसे मार (काम) साधना से उसी प्रकार गिरा देता है जैसे दुर्बल वृक्ष को हवा गिरा देती है। लेकिन जो इन्द्रियों के विषयों में सुसंयत रहता है उसे मार (काम) उसी प्रकार साधना से विचलित नहीं कर सकता जैसे वायु पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।"⁶¹

जैन-दर्शन और गीता में इन्द्रिय-दमन का वास्तविक अर्थ

प्रश्न यह है कि यदि इन्द्रिय-व्यापार बन्धन के कारण हैं तो फिर क्या इनका निरोध सम्भव है ? यदि हम इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह पायेंगे, कि जब तक जीव देह धारण किये है उसके द्वारा इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध सम्भव नहीं है। कारण यह है कि वह एक ऐसे वातावरण में रहता है जहाँ उसे इन्द्रियों के विषयों से साक्षात् सम्पर्क रखना ही पड़ता है। आँख के समक्ष दृश्य-विषय प्रस्तुत होने पर वह उसके रूप और रंग के दर्शन से वंचित नहीं रह सकता, भोजन करते समय उसके रस को अस्वीकार नहीं कर सकता। किसी शब्द के उपस्थित होने पर कर्ण यन्त्र उसकी आवाज को सुने बिना नहीं रह सकता और ठीक इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के विषय उपस्थित होने पर वह उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता अर्थात् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रिय-व्यापारों का निरोध एक असम्भव तथ्य है। तथापि यह प्रश्न उठता है कि बन्धन से कैसे बचा जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनदर्शन कहता है कि बन्धन का कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं वरन् उनके मूल में निहित राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही हैं। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है। कि इन्द्रियों और मन के विषय, रागी

पुरुषों के लिए ही दुःख (बन्धन) के कारण होते हैं, ये विषय वीतरागियों के लिए बन्धन या दुःख का कारण नहीं हो सकते।⁶² कामभोग किसी को भी सम्मोहित नहीं करा सकते न किसी में विकार ही पैदा कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है।⁶³

गीता में भी इसी प्रकार निर्देश दिया गया है कि साधक इन्द्रिय के विषयों अर्थात् भोगों में उपस्थित, जो राग और द्वेष हैं, उनके वश में नहीं हो क्योंकि ये दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं।⁶⁴ जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठात् रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, उस पुरुष के राग-द्वेष निवृत्त न होने के कारण वह मिथ्याचारी या दम्भी कहा जाता है।⁶⁵ इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु राग निवृत्त नहीं होता। जबकि निर्वाण लाभ के लिए राग का निवृत्त होना परमावश्यक है।⁶⁶

वास्तविकता यह है कि निरोध इन्द्रिय-व्यापारों का नहीं वरन् उनमें निहित राग-द्वेष का करना होता है, क्योंकि बन्धन का वास्तविक कारण इन्द्रिय-व्यापार नहीं, वरन् राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ हैं। जैन दार्शनिक कहते हैं इन्द्रियों के शब्दादि मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए ही राग-द्वेष के कारण होते हैं, वीतराग के लिये नहीं।⁶⁷ गीता कहती है कि राग-द्वेष से विमुक्त व्यक्ति इन्द्रिय-व्यापारों को करता हुआ भी पवित्रता को ही प्राप्त होता है।⁶⁸ इस प्रकार जैनदर्शन और गीता इन्द्रिय-व्यापारों के निरोध की बात नहीं कहते, वरन् इन्द्रियों के विषयों के प्रति राग-द्वेष की वृत्तियों के निरोध की धारणा को प्रस्थापित करते हैं।

इसी प्रकार मनोनिरोध के सम्बन्ध में कुछ ध्रान्त धारणाएँ बना ली गई हैं, यहाँ हम उसका भी यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

इच्छानिरोध या मनोनिग्रह

भारतीय आचार-दर्शन में इच्छा-निरोध एवं वासनाओं के निग्रह का स्वर काफी मुखरित हुआ है। आचारदर्शन के अधिकांश विधि-निषेध इच्छाओं के दमन से सम्बन्धित हैं, क्योंकि इच्छाएँ तृप्ति चाहती हैं और इस प्रकार चित्त शान्ति या आध्यात्मिक समत्व का भंग हो जाता है। अतः यह माना गया कि समत्व के नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए इच्छाओं का दमन कर दिया जाय। मन इच्छाओं एवं संकल्पों का उत्पादक है, अतः इच्छानिरोध का अर्थ मनोनिग्रह ही मान लिया गया। पतंजलि ने तो यहाँ तक कह दिया कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। यह माना जाने लगा कि मन स्वयं ही समग्र क्लेशों का धाम है। उसमें जो भी वृत्तियाँ उठती हैं वे सभी बन्धनरूप हैं। अतः उन मनोव्यापारों का सर्वथा अवरोध कर देना यही निर्विकल्पक समाधि है, यही नैतिक जीवन का आदर्श है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में इच्छानिरोध और मनोनिग्रह के प्रत्यय को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है, "यह मन उस दुष्ट और भयंकर अश्व के समान है जो चारों

दिशाओं में भागता है।⁶⁹ अतः साधक संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होने वाले इस मन का निग्रह करें।⁷⁰ गीता में भी कहा गया है-- "यह मन अत्यन्त ही चंचल, विक्षोभ उत्पन्न करने वाला और बड़ा बलवान है, इसका निरोध करना वायु के रोकने के समान अत्यन्त ही दुष्कर है।"⁷¹ फिर भी कृष्ण कहते हैं कि "निस्संदेह इस मन का कठिनता से निग्रह होता है, फिर भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसका निग्रह सम्भव है"⁷² और इसलिए हे अर्जुन ! तू मन की वृत्तियों का निरोध कर इस मन को मेरे में लगा।⁷³ बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में भी कहा गया है कि "यह चित्त अत्यन्त ही चंचल है, इस पर अधिकार कर क्योंकि कुमार्ग से इसकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है, इसकी वृत्तियों का कठिनता से ही निवारण किया जा सकता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य इसे ऐसे ही सीधा कर जैसे इषुकार (बाण बनाने वाला) बाण को सीधा करता है।" यह चित्त कठिनता से निग्रहित होता है, अत्यन्त शीघ्रगामी और यथेच्छ विचरण करने वाला है इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्कर है, दमित किया हुआ चित्त ही सुखवर्धक होता है।⁷⁴ मध्यकालीन जैन आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं, "आँधी की तरह चंचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक एवं तप करने वाले मनुष्य को भी कहीं का कहीं ले जाकर पटक देता है अतः जो मनुष्य मुक्ति चाहते हों उन्हें समग्र विश्व में भटकने वाले लम्पट मन का निरोध करना चाहिए।"⁷⁵

मनोनिग्रहण के उपरोक्त सन्दर्भों के आधार पर भारतीय नैतिक चिन्तन पर यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि वह आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं के दमन एवं मनोनिग्रह को मानसिक समत्व का हेतु नहीं मानता, वरन् इसके ठीक विपरीत उसे चित्त विक्षोभ का कारण मानता है। दमन, निग्रह, निरोध आज की मनोवैज्ञानिक धारणा में मानसिक सन्तुलन के भंग करने वाले माने गये हैं। फ्रायड ने मनोविघटन एवं मनोविकृतियों का प्रमुख कारण दमन और प्रतिरोध को ही माना है। आधुनिक मनोविज्ञान की इस मान्यता को झुठलाया नहीं जा सकता कि इच्छा-निरोध और मनोनिग्रहण मानसिक स्वास्थ्य के लिये अहितकर हैं। यही नहीं इच्छाओं के दमन में जितनी अधिक तीव्रता होती है वे दमित इच्छाएँ उतने ही वेग से विकृत रूप से प्रकट होकर न केवल अपनी पूर्ति का प्रयास करती हैं वरन् व्यक्ति के व्यक्तित्व को भी विकृत बना देती हैं। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं तो फिर नैतिक जीवन से इस "दमन" की धारणा को ही समाप्त कर देना होगा। प्रश्न होता है कि क्या भारतीय नीति निर्माताओं की दृष्टि से यह तथ्य ओझल था ? लेकिन बात ऐसी नहीं है जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन के निर्माताओं की दृष्टि में दमन के अनौचित्य की धारणा अत्यन्त स्पष्ट थी, जिसे सप्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि गहराई से देखें तो गीता स्पष्ट रूप से दमन या निग्रह के अनौचित्य को स्वीकार करती है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही व्यवहार करते हैं वे निग्रह कैसे कर सकते हैं।⁷⁶ योगवासिष्ठ में इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि हे राजर्षि ! तीनों लोक में जितने भी प्राणी हैं स्वभाव से ही उनकी देह द्रव्यात्मक है। जब तक शरीर रहता है तब तक शरीरधर्म स्वभाव से ही अनिवार्य है अर्थात् प्राकृतिक वासना का दमन या निरोध नहीं होता।⁷⁷

गीता कहती है कि यद्यपि विषयों को ग्रहण नहीं करने वाले अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों के उपभोग करने से रोक देने वाले व्यक्तियों के द्वारा विषयों के भोग का तो निग्रह हो जाता है, लेकिन उनका रस (आसक्ति) बना रहता है। अर्थात् वे मूलतः नष्ट नहीं हो पाते और अनुकूल परिस्थितियों में पुनः व्युत्थित हो जाते हैं। "रसवर्जं रसोऽत्यस्य" का पद स्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि गीता में नैतिक विकास का वास्तविक मार्ग निग्रह का नहीं है। न केवल गीता के आचार-दर्शन में दमन को अनुचित माना गया है वरन् बौद्ध और जैन विचारणाओं में भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। बुद्ध के मध्यममार्ग के उपदेश का सार यही है कि आध्यात्मिक विकास के मार्ग में वासनाओं का दमन इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उनसे ऊपर उठ जाना। वासनाओं के दमन का मार्ग और वासनाओं के भोग का मार्ग दोनों ही बुद्ध की दृष्टि में साधना के सच्चे मार्ग नहीं है। तथागत बुद्ध ने जिस मध्यममार्ग का उपदेश दिया उसका स्पष्ट आशय यही था कि साधना में दमन पर जो अत्यधिक बल दिया जा रहा था उसे कम किया जाय। बौद्ध साधना का आदर्श तो चित्तशान्ति है जबकि दमन तो चित्तक्षोभ या मानसिक द्वन्द्व को ही जन्म देता है। बौद्धाचार्य अनंगवज्र कहते हैं कि "चित्त-क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती अतः इस तरह बरतना चाहिए कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो।"⁷⁸ दमन की प्रक्रिया चित्तक्षोभ की प्रक्रिया है, चित्तशान्ति की नहीं। बोधिचर्यावतार की भूमिका में लिखा है कि बुद्ध के धर्म में जहाँ दूसरे को पीड़ा पहुँचाना मना है वहाँ अपने को पीड़ा देना भी अनार्य कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने आत्मपीड़ा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। क्या दमन मात्र से चित्त-विक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा? दबायी हुई वृत्तियाँ जाग्रतावस्था में न सही स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी।⁷⁹ जब तक चित्त में भोग-लिप्सा है तब तक चित्तक्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध विचारणा को दमन का प्रत्यय अभिप्रेत नहीं है। दमन के विरोध में उठ खड़ी बौद्ध विचारणा की चरम परिणति चाहे वामाचार के रूप में हुई हो, लेकिन फिर भी उसके दमन के विरोध को अवास्तविक नहीं कहा जा सकता है। चित्तशान्ति के साधनामार्ग में दमन का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता। जहाँ तक जैन विचारणा का प्रश्न है वह अपनी पारिभाषिक भाषा में स्पष्ट रूप से कहती है कि "साधना का सच्चा मार्ग उपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है।"

जैन दृष्टिकोण के अनुसार औपशमिक मार्ग वह मार्ग है जिसमें मन की वृत्तियों, वासनाओं को दबाकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ा जाता है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग ही 'औपशमिक मार्ग' है। जिस प्रकार आग को राख से ढक दिया जाता है उसी प्रकार उपशम में कर्म-संस्कार या वासना-संस्कार को दबाते हुए नैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहे तो यह दमन (Repression) का मार्ग है। साधना के क्षेत्र में वासना-संस्कार को दबाकर आगे बढ़ने का मार्ग दमन का मार्ग है लेकिन यह मनःशुद्धि का वास्तविक मार्ग नहीं है, यह तो मानसिक गन्दगी को ढकना मात्र है, छिपाना मात्र है। जैन विचारकों ने गुणस्थान प्रकरण में बताया है कि यह वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने की अवस्था नैतिक विकास में आगे तक नहीं चलती है। जैन विचारणा यह मानती है कि ऐसा साधक पदच्युत हो जाता है। जिस दमन को आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के विकास में

बाधक माना गया है, वही विचारणा जैन-दर्शन में मौजूद थी। जैन दार्शनिकों ने भी दमन को विकास का सच्चा मार्ग नहीं माना। उन्होंने कहा, विकास का सच्चा मार्ग वासना-संस्कार को दबाना नहीं है अपितु उनका क्षय करना है। वास्तव में दमन का मार्ग स्वाभाविक नहीं है, वासनाओं या इच्छाओं के निरोध करने की अपेक्षा वे क्षीण हो जाएँ, यही अपेक्षित है। प्रश्न होता है कि वासनाओं के क्षय और निरोध में क्या अन्तर है।

निरोध में चित्त में वासना उठती है और फिर उसे दबाया जाता है, जबकि क्षय में वासना का उठना ही शनैः-शनैः कम होकर समाप्त हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में दमन की क्रिया में वासनात्मक अहं (Id) और आदर्शात्मक अहं (Super-ego) में संघर्ष चलता रहता है। लेकिन क्षय में यह संघर्ष नहीं होता है। वहाँ तो वासना उठती ही नहीं है। दमन या उपशम में हमें क्रोध का भाव आता है और हम उसे दबाते हैं या उसे अभिव्यक्त होने से रोकते हैं, जबकि क्षायिक भाव में क्रोधादि विकार समाप्त हो जाते हैं। उपशमन (दमन) में मन में क्रोध का भाव होता है, मात्र क्रोध-भाव का प्रगटीकरण नहीं होता जिसे साधारण भाषा में गुस्सा पी जाना कहते हैं। उपशम भी गुस्से का पी जाना ही है। इसमें लोकमर्यादा आदि बाह्य तत्त्व ही उसके निरोध का कारण बनते हैं। इसलिए यह आत्मिक विकास नहीं है अपितु उसका ढोंग है, एक आरोपित आवरण है। क्षायिक भाव में क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता है। साधारण भाषा में हम कहते हैं कि ऐसे साधक को गुस्सा आता ही नहीं है, अतः यही विकास का सच्चा मार्ग है। जैन विचारणा के अनुसार यदि कोई साधक नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता है तो वह पूर्णता के अपने लक्ष्य के अत्यधिक निकट पहुँच कर भी पुनः पतित हो जाता है। जैन विचारणा की पारिभाषिक शब्दावली में कहेँ तो उपशम मार्ग का साधक आध्यात्मिक पूर्णता के 14 गुणस्थान (सीदियों) में से 11वें गुणस्थान तक पहुँच कर वहाँ से ऐसा गिर सकता है कि पुनः निम्नतम अवस्था प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है।⁸⁰ यह तथ्य जैन साधना में दमन की परम्परा का क्या अनौचित्य है इसे स्पष्ट कर देता है।

यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि आगम ग्रन्थों में मन के निरोध का उपदेश अनेक स्थानों पर दिया गया है, वहाँ निरोध का क्या अर्थ है ? वहाँ पर निरोध का अर्थ दमन नहीं लगाना चाहिए अन्यथा औपशमिक और क्षायिक दृष्टियों का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। अतः वहाँ निरोध का अर्थ क्षायिक दृष्टि से ही करना समुचित है।

प्रश्न होता है कि क्षायिक दृष्टि से मन का शुद्धीकरण कैसे किया जाय ?

उत्तराध्ययनसूत्र में मन के निग्रह के सम्बन्ध में जो रूपक प्रस्तुत किया गया है उसमें श्रमणकेशी गौतम से पूछते हैं -- आप एक दुष्ट भयानक अश्व पर सवार हैं, जो बड़ी तीव्र गति से भागता है, वह आपको उन्मार्ग की ओर न ले जाकर सन्मार्ग पर कैसे ले जाता है ?

गौतम ने इस लाक्षणिक चर्चा को स्पष्ट करते हुए बताया है -- "यह मन ही साहसिक, दुष्ट एवं भयंकर अश्व है, जो चारों ओर भागता है। मैं उसका जातिवान् अश्व की तरह श्रुतरूपी रस्सियों से बाँधकर समत्व एवं धर्म-शिक्षा से निग्रह करता हूँ।"

इस श्लोक के प्रसंग में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं -- सम्मे तथा धम्मसिक्खाये। धर्म-शिक्षण द्वारा मन को निग्रह करने का अर्थ दमन नहीं है वरन् उनका उदात्तीकरण है। धर्म-शिक्षण का अर्थ है -- मन को सद्वृत्तियों में संलग्न कर देना ताकि वह अनर्थ मार्ग पर जाए ही नहीं। ऐसे ही श्रुत रूप रस्सी से, बाँधने का अर्थ है -- विवेक एवं ज्ञान के द्वारा उसे ठीक ओर चलाना यह समत्व के अर्थ में है। समत्व के द्वारा निग्रहण का अर्थ भी दमन नहीं है वरन् मनोदशा को समभाव से युक्त बनाना है। मन का समत्व दमन में तो सम्भव ही नहीं होता, क्योंकि वह तो संघर्ष की अवस्था है। जब तक वासनाओं और नैतिक आदर्श का संघर्ष है तब तक समत्व हो ही नहीं सकता। जैन-साधना पद्धति तो समत्व (समभाव) की साधना है। वासनाओं के दमन का मार्ग तो चित्त-क्षोभ उत्पन्न करता है, अतः वह उसे स्वीकार्य नहीं है। जैन साधना का आदर्श क्षायिक साधना है जिसमें वासना-दमन नहीं, वरन् वासनाशून्यता ही साधना का लक्ष्य है। गीता में भी मन के निग्रह का जो उपाय बताया गया है वह है, वैराग्य और अभ्यास। वैराग्य मनोवृत्तियों अथवा वासनाओं का दमन नहीं है, अपितु भोगों के प्रति एक अनासक्त वृत्ति है। तटस्थ वृत्ति या उदासीन वृत्ति दमन से बिल्कुल भिन्न है, वह तो भोगों के प्रति राग-भाव की अनुपस्थिति है। दूसरी ओर अभ्यास शब्द भी दमन का समर्थक नहीं है। यदि गीताकार को दमन ही इष्ट होता तो वह अभ्यास की बात नहीं कहता। दमन में अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि यदि दमन ही करना हो तो फिर अभ्यास किसलिये ? अभ्यास होता है विलयन, परिष्कार या उदात्तीकरण के लिए। वस्तुतः साधना का लक्ष्य वासना या चैतसिक आवेगों का विलयन (समाप्ति) होता है न कि उनका दमन। क्योंकि जब तक दमन है तब तक चित्त-विक्षोभ है किन्तु साधना का लक्ष्य तो समाधि है। समाधि वासनाओं के दमन से नहीं, अपितु उनके विलयन से फलित होती है। दमन में वासना रहती है अतः उसमें चित्त-विक्षोभ भी रहता है। जबकि विलयन में वासना ही समाप्त हो जाती है अतः वह चित्त की शान्त अवस्था है। यही चित्त की शान्त एवं निर्विकल्पक अवस्था सम्पूर्ण साधना-पद्धतियों का लक्ष्य है। यही समाधि है, वीतरागता है।

वासनाक्षय या मनोजय का सम्यग्मार्ग

चित्तवृत्तियों या वासनाओं का विलयन (वासना-शून्यता) कैसे हो ? इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में एक समुचित मार्ग प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि, "मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता है, उनसे उसे बलात् रोकना नहीं चाहिए, क्योंकि बलात् रोकने से वह उस ओर अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शान्त हो जाता है। जैसे मद्दोन्मत्त हाथी को रोका जाय तो वह और अधिक प्रेरित होता है, अगर उसे नहीं रोका जावे तो वह इष्ट-विषय प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की है।" साधक अपने विषयों को ग्रहण करते हुए इन्द्रियों को न तो रोके और न प्रवृत्त करें, अपितु इतना सजग (अप्रमत्त) रहे कि उनके कारण मन में राग-द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न न हों। वह किंचित् भी संकल्प-विकल्प नहीं करे, क्योंकि चित्त संकल्पों से व्याकुल होता है। सभी चित्त विक्षोभ संकल्पजन्य हैं। अतः संकल्पयुक्त चित्त में स्थिरता नहीं आ सकती है।⁸¹ वस्तुतः यहाँ आचार्य का मन्तव्य यह है

कि चित्त को शान्त करने के लिये उसे संकल्प-विकल्प से मुक्त करना होगा और इस हेतु ज्ञाता-द्रष्टा या साक्षी बनाना होगा। जब चित्त या मन द्रष्टा, साक्षी और अप्रमत्त होगा तो स्वाभाविक रूप से वह वासनाओं एवं विक्षोभों से मुक्त हो जाएगा। चित्त-विक्षोभ केवल प्रमत्तदशा में रह सकता है, अप्रमत्तदशा में नहीं। यह बात आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य है। जब मन स्वयं अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनेगा तो वह उनका कर्ता नहीं रह जाएगा, क्योंकि एक ही मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता दोनों नहीं हो सकता। जिस समय वह द्रष्टा-भाव में होगा उसी समय उसमें कर्ताभाव नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए जब हम क्रोध करते हैं, उस समय अपनी क्रोध की अवस्था को जानते नहीं हैं और जब अपनी क्रोध की अवस्था को जानने का प्रयास करते हैं तो क्रोध शान्त होने लगता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि जब विवेक जाग्रत होगा तो वासना क्षीण होगी और जब वासना जाग्रत होगी तो विवेक क्षीण होगा। अतः साधना में आवश्यकता होती है विवेक को जाग्रत बनाये रखने की। वासना-क्षय का सम्यक् मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु विवेक को जाग्रत करना है। साधक को अपनी शक्ति वासनाओं से संघर्ष करने में नहीं अपितु विवेक को जाग्रत करने में लगानी चाहिए। वस्तुतः मन में जब विवेक का प्रकाश होता है तो वासना उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। जैसे जब घर का मालिक जागता है तो चोर घर में प्रवेश नहीं करता। जब मन अप्रमत्त या जाग्रत रहता है तो वासनाएँ स्वयं विलुप्त हो जाती हैं।

मन की विभिन्न अवस्थाएँ

वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्तता की ओर -- मन की यह यात्रा अनेक सोपानों से होती है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में इस सम्बन्ध में समानान्तर रूप से इन सोपानों का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में मन की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है --

1. विक्षिप्त मन -- यह मने की विषयासक्त और संकल्प-विकल्पयुक्त विक्षुब्ध अवस्था है। इसे प्रमत्तता की अवस्था भी कह सकते हैं।

2. यातायात मन -- मन इस अवस्था में कभी बहिर्मुखी हो विषय की ओर दौड़ता है तो कभी अन्तर्मुखी हो द्रष्टा या साक्षी बनने का प्रयास करता है। साधना की प्रारम्भिक स्थिति में मन की यह अवस्था रहती है। यह 'प्रमत्ताप्रमत्त' अवस्था है।

3. श्लिष्ट मन -- यह चित्त की अप्रमत्त अवस्था है। यहाँ चित्त निर्विषय तो नहीं होता किन्तु उसके विषय शुभ-भाव होते हैं। यह अशुभ मनोभावों की क्लिय की अवस्था है, अतः इसे आनन्दमय अवस्था भी कहा गया है।

4. सुलीन मन -- यहाँ चित्तवृत्तियों का पूर्ण विलयन हो जाता है और चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है। यह उसकी शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा अवस्था है इसे परमानन्द या समाधि की अवस्था भी कहा जा सकता है।

जैन परम्परा के अनुरूप बौद्ध और हिन्दू परम्पराओं में भी मनोभूमियों का उल्लेख उपलब्ध है। बौद्ध-दर्शन में जैन-दर्शन के समान ही चित्त की 1. कामावचर, 2. रूपावचर, 3. अरूपावचर और 4. लोकोत्तर -- इन चार अवस्थाओं का उल्लेख है जो कि क्रमशः विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन के समतुल्य हैं। योग-दर्शन में मन की निम्न पाँच अवस्थाओं का उल्लेख है -- 1. क्षिप्त, 2. मूढ़, 3. विक्षिप्त, 4. एकाग्र और 5. निरुद्ध। इसमें भी यदि हम क्षिप्त और मूढ़ चित्त को एक ही वर्ग में रखें, तो तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ भी जैन-दर्शन से समानता ही परिलक्षित होती है। जिसे निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है --

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	योग-दर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एवं मूढ़
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन-दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध-दर्शन का कामावचर चित्त और योग-दर्शन के क्षिप्त एवं मूढ़ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं की बहुलता तथा विकलता रहती है। इसी प्रकार यातायात मन, रूपावचर चित्त और विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक ही हैं क्योंकि सभी ने इसे चित्त की अल्पकालिक, प्रयाससाध्य स्थिरता की अवस्था माना है। यहाँ वासनाओं का वेग तथा चित्त विक्षोभ तो बना रहता है किन्तु उसमें कुछ मन्दता अवश्य आ जाती है। तीसरे स्तर पर जैन-दर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योग-दर्शन का एकाग्रचित्त भी समकक्ष है क्योंकि इसे सभी ने मन की स्थिरता और अप्रमत्तता की अवस्था माना है। चित्त की अन्तिम अवस्था, जिसे जैन-दर्शन में सुलीन मन, बौद्ध-दर्शन में लोकोत्तर चित्त और योग-दर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है, स्वरूप की दृष्टि से समान ही है क्योंकि इसमें सभी ने वासना-संस्कार एवं संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव माना है।

वस्तुतः सभी साधना पद्धतियों का चरम लक्ष्य मन की उस वासना-शून्य, निर्विकार, निर्विचार एवं अप्रमत्त दशा को प्राप्त करना है, जिसे सभी ने समाधि के सामान्य नाम से अभिहित किया है। साधना है -- वासना से विवेक की ओर, प्रमत्तता से अप्रमत्तता की ओर तथा चित्त-क्षोभ से चित्त-शान्ति की ओर प्रगति। मन का यह स्वरूप विश्लेषण हमें इस दिशा में निर्देशित कर सकता है किन्तु प्रयास तो स्वयं ही करने होंगे। साधना केवल स्व-प्रयासों से ही फलवती होती है।

सन्दर्भ

1. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/56
2. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), 4/38

3. धम्मपद यमक वर्ग 1
4. धम्मपद यमक वर्ग 2
5. धम्मपद चित्तवर्ग 43
6. धम्मपद चित्तवर्ग 37
7. चित्तं वर्तते चित्तं, चित्तमेव विमुच्यते ।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते ॥
- लंकावतारसूत्र 145
8. ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् - 2
9. गीता - 3/40
10. गीता - 6/27
11. गीता, 3/40
12. गीता, 3/40
13. देखिये -- दर्शन और चिन्तन, भाग 1, पृ० 140 तथा भाग 2, पृ० 311
14. मनश्चैव जडं मन्य -- योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, सर्ग 78/21
15. भूमिरापोऽन्नलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
- गीता 7/4
16. मनः द्विविधः -- द्रव्यमनः भावमनः च ।
17. राधाकृष्णन -- भारतीय दर्शन भाग 1 -- जैनदर्शन
18. The Jaina's have given a modified parallelism with reference to psychic activity as determined by the Karmic matter -- They presented a sort of psycho-physical parallelism concerning individual mind & bodies yet they were not unaware of interaction between the mental and bodily activity -- Jaina's do not speak merely in terms of pre-established harmony their theory transcends parallelism and postulates a more intimate connection between body and mind their notion of the structure of the mind and functional aspects of the mind shows that they were aware of the significance of interaction. Jaina theory was an attempt at the integration of metaphysical dichotomy of Jiva and Ajiva and the establishment of the interaction of individual mind and body.
- Some Problems of Jain Psychology, Page 29.
19. विशद तुलनात्मक विवेचना के लिये देखिये -- दर्शन और चिन्तन, भाग 1, पृ० 134-135

20. विशद विवेचना के लिए देखिए -- विशुद्धिमगो, भाग 2, पृ0 103-128 (हिन्दी अनुवाद)
21. गीता, 15/9
22. सददे-स्वे य गन्धे य, रसे-फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुण, निच्चसो परिवज्जए।।
- उत्तराध्ययन, 16/10
23. जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होई केवलिणो।
केवलिणाणी तम्हा तेण तुसोऽबन्धगो भणिदो।।
परिणाम पुव्ववयणं जीवस्स य बंधकरणं होई।
परिणामरहिय वयणं तम्हा णाणीस्स णहि बन्धो।।
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकरणं होई।
ईहारहियं वसणं तम्हा णाणीस्स ण हि बन्धो।।
ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होई केवलिणो।
तम्हा ण होई बन्धो साकट्टं मोहसणीयस्स।।
- नियमसार, 171, 172, 173, 174
- टिप्पणी -- ईहा शब्द विमर्शात्मक संकल्प की अपेक्षा -- विमर्शरहित "वासना" के अधिक निकट है।
24. गणधरवाद -- वायुभूति से चर्चा
25. पराचि खानि व्यतृणत्स्वयंभू स्तस्मात्पराइपश्यति नान्तरात्मन् -- कठ0 2/1/1
26. सव्वे सुहसाया दुक्खपडिक्कूला -- आचारांग
27. इन्द्रिय मनोनुकूलायाम्प्रवृत्तो -- अभिधानराजेन्द्र, खण्ड 2, पृ0 575
28. लाभस्यार्थस्याभिलाषातिरेके -- वही, पृ0 575
29. रागस्सहेउ समणुन्नमाहु दोसस्सहेउं अमणुन्नमाहु -- उत्तरा0 32/23
तुलना कीजिये : राग की उत्पत्ति के दो हेतु हैं -- 1. शुभ (अनुकूल) करके देखना,
2. अनुचित विचार। द्वेष की उत्पत्ति के दो हेतु हैं -- 1. प्रतिकूल करके देखना तथा
2. अनुचित विचार।
- अंगुत्तर निकाय, दूसरा निपात, 11/6-7
30. तओ से जायति पओयणाइं निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा तप्पच्चयं उज्जमए य रागी।।
कोहं च माणं च तहेव मायं लोहं दुगच्छं अरइं रइं च।
हासं भयं योग पुमित्थिवेयं नपुंसवेयं विविहे य भावे।।
आवज्जई एयमणेगस्वे एवविहे कामणुणुसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुण्णदीणे हिरिमं वइस्से।।
-- उत्तराध्ययन, 32/105, 102, 103

31. ध्यायतो विषयान पुंसः: संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। -- गीता, 2/62-63
32. रागो या दोसा वि य कम्मवीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं दुक्खं च जाई मरणं वयंति ।। -- उत्तराध्ययन, 32/6
33. इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत !
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ।। -- गीता, 7/27
34. संयुत्तनिकाय, नन्दन वर्ग, पृ० 12
35. विनेन्द्रियजयं नैव कषायान् जेतुमीश्वरः । -- योगशास्त्र, 4/24
36. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/23
37. वही, 32/24
38. वही, 32/27
39. वही, 32/28
40. वही, 32/32
41. वही, 32/36
42. वही, 32/37
43. वही, 32/40
44. वही, 32/41
45. वही, 32/43
46. वही, 32/49
47. वही, 32/50
48. वही, 32/53
49. वही, 32/54
50. वही, 32/62
51. वही, 32/63
52. वही, 32/71
53. वही, 32/72
54. वही, 32/75
55. वही, 32/76
56. वही, 32/79
57. वही, 32/80
58. वही, 32/84
59. योगशास्त्र (हेमचन्द्र) प्रकाश 4
60. गीता, 2/60-67, 3/41

1. धम्मपद, 1/7-8
2. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/100
3. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/101
4. गीता, 3/34
5. गीता, 3/6
6. गीता, 2/59
7. उत्तराध्ययनसूत्र, 32/109
8. गीता, 2/64
9. मणो साहसिओ भीमो दुट्ठसो परिधावई । -- उत्तराध्ययन 23/58
70. रम्म समारम्भे आरम्भे य तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तिज्ज जयं जई ।। -- उत्तराध्ययन 24/11
71. गीता, 6/34
72. गीता, 6/35
73. मनःसंयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः । -- गीता 6/14
74. धम्मपद, चित्तवर्ग, 33-35
75. योगशास्त्र (हेमचन्द्र), 36-39
76. प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति । -- गीता 3/33
77. सर्वास्य एव राजर्षि ! भूतजातैर्जगत्त्रये ।
देवादेवारपि देहोद्भवं द्रव्यात्मैव स्वभावतः ।
अज्ञमस्त्वथ तज्ज्ञं वा यावत्स्वान्तं शरीरकर्म ।। -- योगवासिष्ठ 105/109
78. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः ।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ।।
प्रज्ञोपायविनिश्चय, 5/40 (उद्धृत बोधिचर्यावतार, भूमिका), पृ० 20
79. बोधिचर्यावतार, भूमिका, पृ० 20
80. विशेष जानकारी के लिये देखिये -- गुणस्थानारोहण ।
81. योगशास्त्र 12/33-36



जैनदर्शन में नैतिकता की सापेक्षता और निरपेक्षता

- प्रो० सागरमल जैन

पाश्चात्य आचार दर्शन में यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहा है कि नैतिकता सापेक्ष है या निरपेक्ष। नैतिकता को निरपेक्ष मानने वाले विचारकों में प्रमुख रूप से जर्मन दार्शनिक कांट का नाम आता है। कांट का कथन है कि "केवल उस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करो जिसे तुम उसी समय एक सार्वभौम नियम बनाने का भी संकल्प कर सको।"¹ कांट यह मानते हैं कि "नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं अर्थात् नैतिक नियम ऐसे नियम हैं जो देश-काल अथवा व्यक्ति के आधार पर परिवर्तित नहीं होते। यदि सत्य बोलना नैतिकता है तो फिर किसी भी स्थिति में असत्य बोलना नैतिक नहीं हो सकता। हमें प्रत्येक परिस्थिति में सत्य ही बोलना चाहिए।" कांट की मान्यता को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं, जो आचरण नैतिक है वह सदैव नैतिक रहेगा और जो अनैतिक है वह सदैव अनैतिक रहेगा। देशकालगत अथवा व्यक्तिगत परिस्थितियों से वे प्रभावित नहीं होते हैं अर्थात् आचार के जो कर्म नैतिक हैं वे सदैव प्रत्येक परिस्थिति में नैतिक कर्म रहेंगे और आचार के जो कर्म अनैतिक हैं वे सदैव प्रत्येक परिस्थिति में अनैतिक कर्म रहेंगे। इस प्रकार जो विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिकता निरपवाद एवं देशकाल और व्यक्तिगत तथ्यों से निरपेक्ष है उसे निरपेक्ष नैतिकता की विचारणा कहा जाता है। इसके विपरीत नैतिक दर्शन की जो विचारणाएँ नैतिक कर्मों एवं आचरणों को अपवाद युक्त एवं देश, काल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तनशील मानती हैं, नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणाएँ कही जाती हैं। नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणा यह स्वीकार करती है कि एक ही कर्म एक अवस्था में नैतिक हो सकता है और वही कर्म दूसरी अवस्था में अनैतिक हो सकता है। हाब्स, मिल तथा सिजविक प्रभृति सुखवादी विचारक इसी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। नैतिक कर्मों के अपवाद के प्रश्न को लेकर इनका कांट से विरोध है। ये विचारक नैतिक जगत में अपवाद को स्वीकार करते हैं। हॉब्स लिखते हैं कि "अकाल के समय जब अनाज क्रय करने पर भी न मिले, न दान में ही प्राप्त हो तब क्षुधातृप्ति के लिये कोई चौर्य कर्म का आचरण करे तो उसका वह अनैतिक कर्म क्षम्य ही माना जाएगा।"² मिल इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, कि "ऐसे समय में चोरी करके जीवन की रक्षा करना केवल क्षम्य कर्म ही नहीं है अपितु मनुष्य का कर्तव्य है।"³ इसी प्रकार सिजविक भी नैतिक जीवन के क्षेत्र में अपवाद को स्थान देते हैं, वे लिखते हैं -- "यद्यपि यह कहा गया है कि सब लोगों को सच बोलना चाहिए तथापि हम यह नहीं कह सकते हैं कि जिन राजनीतिज्ञों को अपनी कार्यवाही गुप्त रखनी पड़ती है वे दूसरे व्यक्तियों के साथ हमेशा सच ही बोला करें।" फलवादी नैतिक विचारक जान डीवी लिखते हैं "वास्तव में ऐसे स्थान और समय -- अर्थात् ऐसे सापेक्ष सम्बन्ध हो सकते हैं जिनमें

सामान्य क्षुधाओं की पूर्ति भी, जिन्हें साधारणतः भैतिक और ऐन्द्रिक कहा जाता है, आदर्श हों।⁴ इन सभी के विपरीत कांट नैतिक नियमों में किसी भी अपवाद को स्थान नहीं देते हैं। उनके बारे में यह घटना प्रसिद्ध है कि एक बार कांट के लिए किसी जहाज से फलों का पार्सल आ रहा था। रास्ते में जहाज विपत्ति में फँस गया और यात्री भूखों मरने लगे। ऐसी स्थिति में कांट का फलों का पार्सल भी खोल लिया गया। जब कांट के पास खुला हुआ पार्सल पहुँचा, तो कांट ने पार्सल का खोला जाना सर्वथा अनैतिक ठहराया। कांट बताते हैं कि नैतिक कर्मी अनैतिक नहीं बनता और अनैतिक कर्मी नैतिक नहीं बनता। देश और परिस्थितियाँ अनैतिक को नैतिक नहीं बना सकतीं।

दूसरे स्पेन्सर आदि कुछ अन्य विकासवादी विचारक एवं समाजशास्त्रीय विचारक भी नैतिक कर्मों की नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं। स्पेन्सर यद्यपि नैतिकता को तथ्य स्वीकार करते हैं फिर भी वे उससे सन्तुष्ट नहीं होते हैं और निरपेक्ष नीति की कल्पना कर डालते हैं।

पश्चिम की तरह भारत में भी नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्षों पर काफी विचारणाएँ हुई हैं। नैतिक कर्मों की अपवादात्मकता और निरापवादिता की चर्चा के स्वर स्मृति-ग्रन्थों और पौराणिक साहित्य में काफी जोरों से सुनाई देते हैं।⁵ जहाँ तक जैनविचार में नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष की मान्यता का प्रश्न है उसे एकांतिक रूप से न तो सापेक्ष कहा जा सकता है, न निरपेक्ष। यदि उसे सापेक्ष कहने का आग्रह ही रखा जाये तो वह इसीलिये सापेक्ष है क्योंकि वह निरपेक्ष भी है।⁶ निरपेक्ष के अभाव में सापेक्ष भी सच्चा सापेक्ष नहीं है। वह निरपेक्ष इसलिये है क्योंकि वह सापेक्षता से ऊपर भी है। आइये जरा इस प्रश्न पर गहरा विचार करें कि जैन नैतिकता किस अर्थ में सापेक्ष है और किस अर्थ में निरपेक्ष है।

जैन नैतिकता का सापेक्ष

जैन तत्त्वज्ञान जिस अनेकांतवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करके चलता है उसके अनुसार सारा ज्ञान सापेक्ष ही होगा चाहे वह कितना ही विस्तृत क्यों नहीं हो। यदि हम अपूर्ण हैं तो वस्तु के अनन्त पक्षों को नहीं जान सकते, अतः जो कुछ भी जानेंगे वह अपूर्ण होगा, सापेक्ष होगा। यदि ज्ञान ही सापेक्ष रूप में होगा तो हमारे नैतिक निर्णय जिन्हें हम प्राप्त ज्ञान के आधार पर करते हैं, सापेक्ष ही होंगे इस प्रकार अनेकान्तवाद की धारणा से नैतिक निर्णयों की सापेक्षता होती है। गीता भी स्वीकार करती है कि "किं कर्तव्य" का निश्चय कर पाना अथवा कर्म की शुभाशुभता का निरपेक्ष रूप से निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है।⁷

आचरण के जिन तथ्यों को हम शुभ या अशुभ अथवा पुण्य या पाप के नाम से सम्बोधित करते हैं, उनके सन्दर्भ में साधारण व्यक्ति द्वारा दिए गए यह निर्णय सापेक्षिक ही हो सकते हैं। हमारे निर्णयों के देने से कम से कम कर्त्ता के प्रयोजन एवं कर्म के परिणाम के पक्ष तो उपस्थित होते ही हैं। दूसरे व्यक्ति के आचार के बारे में लिए जाने वाले निर्णयों में हम प्रयोजन सापेक्ष होते हैं। कोई भी व्यक्ति पूर्णतया न तो यह जान सकता है कि कर्त्ता का प्रयोजन क्या था, न स्वयं के कर्मों का दूसरों पर क्या परिणाम हुआ, इसका पूरा ज्ञान रख सकता है।

अतः जन-साधारण के नैतिक निर्णय हमेशा सापेक्ष हो सकते हैं।

दूसरी ओर हमें जिस जगत् में नैतिक आचरण करना है वह सारा जगत् ही आपेक्षिकताओं से युक्त है क्योंकि उसकी प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अतः इस सापेक्षिकता के जगत् में नैतिक आचरण भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। सभी कर्म देश-काल अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं और इसलिए वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। बाह्य जागतिक परिस्थितियाँ और कर्म के पीछे रहा हुआ वैयक्तिक अभिप्रयोजन (Intention) भी आचरण को नैतिक विचारणा की दृष्टि से सापेक्ष बना देते हैं। जैनदर्शन दार्शनिक दृष्टि से वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता को स्वीकार करता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में आदीपव्योम सभी वस्तुएँ स्याद्ब्रह्म की मुद्रा से अंकित है अर्थात् सभी जागतिक तथ्य अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। नैतिक कर्म भी एक जागतिक तथ्य है वह भी अनेक पक्षों से युक्त है। अतः उस पर किसी निरपेक्ष अथवा एकान्तिक दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जा सकता। उसके देश-कालगत अनेक पक्षों की बिना समीक्षा किये उन्हें नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता। कोई भी कर्म देशकाल भाव आदि तथ्यों से भिन्न एकान्त रूप में न तो नैतिक कहा जा सकता है और न अनैतिक। पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले इसी विचार के समर्थक हैं। वे लिखते हैं "प्रत्येक कर्म के अनेक पक्ष होते हैं, वह अनेक रूपों से सम्बन्धित होता है, उस पर विचार करने के अनेक दृष्टिकोण होते हैं और वह अनेक गुणों से युक्त होता है, सदैव अनेक ऐसे सिद्धान्त हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत उस पर विचार किया जा सकता है और इसलिए उसे (एकान्त रूप में) नैतिक अथवा अनैतिक मानने में कुछ कम कठिनाई नहीं होती। एक कर्म एक दशा में नैतिक हो सकता है और दूसरी दशा में अनैतिक हो सकता है, वही कर्म एक व्यक्ति के लिए नैतिक हो सकता है दूसरे व्यक्ति के लिए अनैतिक हो सकता है। जैन विचारणा कर्मों की नैतिक दृष्टि से इस सापेक्षता को स्वीकार करती है। प्राचीनतम जैन आगम आचारांगसूत्र में कहा गया है कि "जो आस्रव या बन्ध के कारण हैं वे सभी मोक्ष के हेतु हो जाते हैं और जो मोक्ष के हेतु हैं वे सभी बन्ध के हेतु हो जाते हैं।"⁸ इस प्रकार कोई भी अनैतिक कर्म विशेष स्थिति में नैतिक बन जाता है और कोई भी नैतिक कर्म विशेष स्थिति में अनैतिक बन सकता है।⁹ वस्तुतः आचरण या क्रिया अपने आप में न तो नैतिक होती है और न अनैतिक वरन् परिस्थितियाँ एवं व्यक्ति का प्रयोजन उसे नैतिक अथवा अनैतिक बना देता है।¹⁰ दान देना नैतिक कर्म है लेकिन कुपात्र को यश प्राप्ति के निमित्त दिया हुआ दान अनैतिक हो जाता है। अतः आचरण की शुभता अथवा अशुभता का निश्चय निरपेक्ष रूप से नहीं किया जा सकता है। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं "श्रिभुवनोदर विवरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने आप में न तो मोक्ष के कारण हैं और न संसार के कारण हैं। साधक की अपनी अन्तः स्थिति ही उन्हें अच्छे या बुरे का रूप दे देती है।" लेकिन न केवल साधक की मनःस्थिति जिसे जैन शब्दावली में भाव कहते हैं आचरण के तथ्यों का मूल्यांकन करती है वरन् उसके साथ-साथ जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र और काल को भी कर्मों की नैतिकता और अनैतिकता का निर्धारक तत्त्व स्वीकार किया है। आचार्य आत्मारामजी महाराज अपनी आचारांगसूत्र की व्याख्या में लिखते हैं बन्ध और निर्जरा (नैतिकता और अनैतिकता) में भावों की प्रमुखता है परन्तु भावों के साथ स्थान और क्रिया का

भी मूल्य है।¹¹ आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण की टीका में आचार्य जिनेश्वर ने चरकसंहिता का एक श्लोक¹² उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि देशकाल और रोगादि के कारण मानवजीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था भी आ जाती है जब अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य बन जाता है। जो विधान है, वह निषेध की कोटि में चला जाता है और जो निषेध है वह विधान की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार जैन नैतिकता में चार आपेक्षिकाएँ नैतिक मूल्यों के निर्धारण में भाग लेती हैं। आचरण के तथ्य इन्हीं चार बातों के आधार पर नैतिक और अनैतिक नहीं होते वरन् वस्तुस्थिति, स्थान, समय और कर्ता के मनोभाव यह चारों मिलकर उसे नैतिक अथवा अनैतिक बना देते हैं। संक्षेप में एकान्त रूप से न तो कोई आचरण, कर्म या क्रिया नैतिक है और न अनैतिक वरन् देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ और द्रव्य तथा भावगत आन्तरिक परिस्थितियाँ उन्हें वैसा बना देती है। इस प्रकार जैन नैतिकता व्यक्ति के कर्तव्यों के सम्बन्ध में अनेकांतवादी या सापेक्षिक दृष्टिकोण अपनाती है। वह यह भी स्वीकार करती है कि जो दानादि एक गृहस्थ के नैतिक कर्तव्य हैं वे ही एक मुनि या संन्यासी के लिए अकर्तव्य होते हैं। कर्तव्याकर्तव्य मीमांसा में जैन विचारणा किसी भी एकांतिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करती। समदर्शी आचार्य हरिभद्र लिखते हैं कि तीर्थंकरों ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न किसी बात के लिए एकान्त निषेध ही किया है। तीर्थंकर का एक ही आदेश है, एक ही आज्ञा है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो उसे सत्यभूत होकर करो, उसे पूरी वफादारी के साथ करते रहो।¹³ आचार्य उमास्वाति का कथन है नैतिक-अनैतिक, विधि (कर्तव्य) निषेध (अकर्तव्य) अथवा आचरणीय या अनाचरणीय एकान्त रूप से नियत नहीं है। देशकाल, व्यक्ति, अवस्था, उपघात और विशुद्ध मनःस्थिति के आधार पर असमाचरणीय समाचरणीय और समाचरणीय असमाचरणीय बन जाता है।¹⁴ वर्तमान युग के प्रसिद्ध जैन विचारक उपाध्याय अमरमुनिजी ने जैन नैतिकता के सापेक्षिक दृष्टिकोण को बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है, वे लिखते हैं "कुछ विचारक जीवन में उत्सर्ग (नैतिकता की निरपेक्ष या निरपवाद स्थिति) को पकड़कर चलना चाहते हैं और जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते हैं, उनकी दृष्टि में अपवाद धर्म नहीं अपितु एक महत्तर पाप (अनैतिकता) है-- दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं -- ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय की कोटि में नहीं आ सकते। जैनधर्म की साधना एकान्त की नहीं, अपितु अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।"¹⁵ अन्यत्र वे पुनः लिखते हैं -- "उसके (जैन दर्शन के) दर्शन कक्ष में मोक्ष के हेतुओं की कोई बँधी-बँधायी नियत रूपरेखा नहीं है, इयत्ता नहीं है।"¹⁶ पाश्चात्य विचारक ब्रेडले भी कर्तव्याकर्तव्य मीमांसा करते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि नैतिकता सापेक्ष होती है। वे लिखते हैं कि "मेरा स्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त स्वीकार करता है कि यदि नैतिक तथ्य सापेक्ष नहीं है तो कोई भी नैतिकता नहीं होगी। ऐसी नैतिकता जो सापेक्ष नहीं है, व्यर्थ है।"¹⁷

जैन नैतिकता का निरपेक्ष पक्ष

हमने जैनदर्शन में नैतिकता के सापेक्ष पक्ष पर विचार किया लेकिन इसका अर्थ यह

नहीं कि जैनदर्शन में नैतिकता का केवल सापेक्ष पक्ष ही स्वीकार किया गया है। जैन विचारक कहते हैं कि नैतिकता का एक दूसरा पहलू भी है जिसे हम निरपेक्ष कह सकते हैं। जैन तीर्थंकरों का उद्घोष था कि अहिंसा शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।¹⁸ यदि धर्म में कोई निरपेक्ष एवं शाश्वत तत्त्व नहीं है तो फिर धर्म की नित्यता और शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जैन नैतिकता यह स्वीकार करती है कि भूत, वर्तमान, भविष्य के सभी धर्म प्रवर्तकों (तीर्थंकरों) की धर्म प्रज्ञाप्ति एक ही होती है लेकिन इसके साथ-साथ वह यह भी स्वीकार करती है कि सभी तीर्थंकरों की धर्म प्रज्ञाप्ति एक होने पर भी तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में विभिन्नता हो सकती है, जैसी महावीर और पार्श्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में थी।¹⁹ जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिक आचरण के अन्तर और बाह्य ऐसे दो पक्ष होते हैं जिन्हें जैन पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य और भाव कहा जाता है। जैन विचारणा के अनुसार आचरण का यह बाह्य पक्ष देश एवं कालगत परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनशील होता है, सापेक्ष होता है। जबकि आचरण का आन्तर पक्ष सदैव-सदैव एक रूप होता है, अपरिवर्तनशील होता है दूसरे शब्दों में निरपेक्ष होता है। वैचारिक या भावहिंसा सदैव-सदैव अनैतिक होती है, कभी भी धर्म मार्ग अथवा नैतिक जीवन का नियम नहीं कहला सकती, लेकिन द्रव्यहिंसा या बाह्यरूप में परिलक्षित होने वाली हिंसा सदैव ही अनैतिक अथवा अनाचरणीय ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। आन्तर परिग्रह अर्थात् तृष्णा या आसक्ति सदैव ही अनैतिक है लेकिन देव्य परिग्रह सदैव ही अनैतिक नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में जैन विचारणा के अनुसार आचरण के बाह्य रूपों में नैतिकता सापेक्ष हो सकती है और होती है लेकिन आचरण के आन्तर रूपों या भावों या संकल्पों के रूप में वह सदैव निरपेक्ष ही है। सम्भव है कि बाह्य रूप में अशुभ दिखने वाला कोई कर्म अपने अन्तर में निहित किसी सदाशयता के कारण शुभ हो जाये लेकिन अन्तर का अशुभ संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि में नैतिकता अपने हेतु या संकल्प की दृष्टि से निरपेक्ष होती है। लेकिन परिणाम अथवा बाह्य आचरण की दृष्टि से सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में नैतिक संकल्प निरपेक्ष होता है लेकिन नैतिक कर्म सापेक्ष होता है। इसी कथन को जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवहार नय (व्यवहार दृष्टि) से नैतिकता सापेक्ष है या व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है। लेकिन निश्चय नय (पारमार्थिक दृष्टि) से नैतिकता निरपेक्ष है या निश्चय नैतिकता निरपेक्ष है। जैन दृष्टि में व्यावहारिक नैतिकता वह है जो कर्म के परिणाम या फल पर दृष्टि रखती है जबकि निश्चय नैतिकता वह है जो कर्ता के प्रयोजन या संकल्प पर दृष्टि रखती है। युद्ध का संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता लेकिन युद्ध का कर्म सदैव ही अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं। आत्महत्या का संकल्प सदैव ही अनैतिक होता है लेकिन आत्महत्या का कर्म सदैव ही अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं है वरन् कभी-कभी तो वह नैतिक ही हो जाता है।²⁰

नैतिकता के क्षेत्र में जब एक बार व्यक्ति के संकल्प स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर लेते

हैं तो फिर हमें यह कहने का अधिकार ही नहीं रह जाता है कि हमारा संकल्प सापेक्ष है। यदि संकल्पसापेक्ष नहीं है तो उसके सन्दर्भ में नैतिकता को भी सापेक्ष नहीं माना जा सकता है। यही कारण है कि जैन विचारणा संकल्प या विचारों की दृष्टि से नैतिकता को सापेक्ष नहीं मानती है। उसके अनुसार शुभ अध्यवसाय या संकल्प सदैव शुभ है, नैतिक है और कभी भी अनैतिक नहीं होता है। लेकिन निरपेक्ष नैतिकता की धारणा को व्यावहारिक आचरण के क्षेत्र पर पूरी तरह लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यवहार सदैव सापेक्ष होता है। डॉ० ईश्वरचन्द्र शर्मा लिखते हैं कि "यदि कोई नियम आचार का निरपेक्ष नियम बन सकता है तो वह बाह्यात्मक नहीं होकर अन्तरात्मक ही होना चाहिए। आचार का निरपेक्ष नियम वही नियम हो सकता है जो कि मनुष्य के अन्तस् में उपस्थित हो। यदि वह नियम बाह्यात्मक हो तो वह सापेक्ष ही सिद्ध होगा क्योंकि उसके पालन करने के लिए मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर रहना पड़ेगा।" 21

जैन नैतिक विचारणा में नैतिकता को निरपेक्ष तो माना गया लेकिन केवल संकल्प के क्षेत्र तक। जैन-दर्शन "मानस कर्म" के क्षेत्र में नैतिकता को विशुद्ध रूप में निरपेक्ष स्वीकार करता है। लेकिन जहाँ कायिक या वाचिक कर्मों के बाह्य आचरण का क्षेत्र आता है, वह उसे सापेक्ष स्वीकार करती है। वस्तुतः विचारणा का क्षेत्र, मानस का क्षेत्र, आत्मा का अपना क्षेत्र है वहाँ वही सर्वोच्च शासक है। अतः वहाँ तो नैतिकता को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन आचरण के क्षेत्र में चेतन तत्त्व एक मात्र शासक नहीं, वहाँ तो अन्य परिस्थितियाँ भी शासन करती हैं, अतः उस क्षेत्र में नैतिकता के प्रत्यय को निरपेक्ष नहीं बनाया जा सकता।

जैन विचारणा के इतिहास में भी एक प्रसंग ऐसा आया है जब आचार्य भिक्षु जैसे कुछ जैन विचारकों ने नैतिकता के बाह्यात्मक नियमों को भी निरपेक्ष रूप में ही स्वीकार करने की कोशिश की। वस्तुतः जो नैतिक विचारणाएँ मात्र सापेक्षिक दृष्टि को ही स्वीकार करती हैं वे नैतिक जीवन के आचरण में उस यथार्थता (actuality) की भूमिका को महत्त्व देती हैं, जिसमें साधक व्यक्ति खड़ा हुआ है। लेकिन वे उस यथार्थता से ऊपर स्थित आदर्श का समुचित मूल्यांकन करने में सफल नहीं हो पाती हैं। वास्तविकता यह है कि वे "जो है" उस पर तो ध्यान देती हैं लेकिन "जो होना चाहिए" इस पर उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती। उनकी दृष्टि यथार्थ या वास्तविकता पर होती है, आदर्श पर नहीं। नैतिकता की एकान्तिक सापेक्षवादी मान्यता में नैतिक आदर्श की स्थापना जटिल हो जाती है। उसमें नैतिकता सदैव साधन वस्तु ही बनी रहती है। सापेक्षवादी नैतिकता आचरण की एक ऐसी कच्ची सामग्री प्रस्तुत करती है जिसका अपना कोई "आकार" नहीं। (Relative morality gives us only matter of conduct not the form of conduct.) वह तो उस कुम्हार के चाक पर रखे हुए मृत्तिका पिण्ड के समान है जिसका क्या बनना है यह निश्चित नहीं। इसी प्रकार जो नैतिक विचारणाएँ मात्र निरपेक्ष दृष्टि को स्वीकार करती हैं, वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्श की ओर देखती हैं, वे नैतिक आदर्श को तो प्रस्तुत कर देती हैं, लेकिन उसके साधना पथ का समुचित

निर्धारण करने में असफल हो जाती है, उसमें नैतिकता मात्र साध्य बनकर रह जाती है।

नैतिकता की निरपेक्षवादी धारणा नैतिक जीवन के प्रयोजन या लक्ष्य और दूसरे शब्दों में कर्म के पीछे रहे हुए कर्ता के अभिप्राय को ही सब कुछ मान लेती है। वे मात्र आदर्श की ओर ही देखती है लेकिन साधक की देशकालगत अवस्थाओं पर विचार नहीं करती है। नैतिक जीवन के आदर्श इस प्रकार प्रस्तुत किये जाने चाहिए कि उसमें निम्न से निम्नतर चरित्र वाले से लगाकर उच्चतम नैतिक विकास वाले प्राणियों के समाहित होने की संभावना बनी रहे। जैन नैतिकता अपने नैतिक आदर्श को इतने ही लचीले रूप में प्रस्तुत करती है, जिसमें पापी से पापी आत्मा भी क्रमिक विकास करता हुआ नैतिक साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है।

सापेक्षवादी और निरपेक्षवादी दोनों ही विचारणाएँ अपने एकांतिक रूप में अपूर्ण हैं। एक उस भूमि पर तो देखती है, जहाँ साधक खड़ा है, लेकिन उससे आगे नहीं। दूसरी उस आदर्श की ओर ही देखती है, जो सुदूर ऊँचाइयों में स्थित है। लेकिन इन दोनों दशाओं में नैतिक जीवन के लिए जिस गति की आवश्यकता है वह सम्यक् रूपेण सम्पन्न नहीं हो पाती। नैतिकता तो एक लक्ष्योन्मुख गति है, लेकिन उस गति में साधक की दृष्टि केवल उस भूमि पर ही स्थित है जिस पर वह गति कर रहा है और अपने गन्तव्य मार्ग की ओर सामने नहीं देखता है, तो कभी भी लक्ष्य के मध्य स्थित बाधाओं से टकराकर पदच्युत हो सकता है। इसी प्रकार जो साधक मात्र आदर्श की ओर देखता है और उस भूमि की ओर नहीं देखता जिस पर चल रहा है तो वह भी अनेक ठोकरें खाता है और कण्टकों से पद विद्र कर लेता है। नैतिक जीवन में भी हमारी गति का वही स्वरूप होता है जो हमारे दैनिक जीवन में होता है। जिस प्रकार दैनिक जीवन में चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है न मात्र नीचे देखने से। जो पथिक मात्र नीची दृष्टि रखता है और सामने नहीं देखता वह ठोकर तो नहीं खाता लेकिन टकरा जाता है। जो सामने तो देखता है लेकिन नीचे नहीं देखता वह टकराता तो नहीं लेकिन ठोकर खा जाता है। चलने की सम्यक् प्रक्रिया में पथिक को सामने और नीचे दोनों ओर दृष्टि रखनी होती है। इसी प्रकार नैतिक जीवन में साधक को यथार्थ और आदर्श दोनों पर दृष्टि रखनी होती है। साधक की एक आँख यथार्थ पर और दूसरी आदर्श पर हो तभी वह नैतिक जीवन में सम्यक् प्रगति कर सकता है। सम्भवतः यह शंका हो सकती है कि हमें सामान्य जीवन में तो दो आँखें मिली हैं लेकिन नैतिक जीवन की दो आँखें कौन सी हैं। किसी अपेक्षा से ज्ञान और क्रिया को नैतिक जीवन की दो आँखें कहा जा सकता है। नैतिकता कहती है कि ज्ञान नामक आँख को आदर्श पर जमाओ और क्रिया नामक आँख को यथार्थ पर अर्थात् कर्म के आचरण में यथार्थता की ओर देखो और गन्तव्य की ओर प्रगति करने में आदर्श की ओर। जैनदर्शन ने नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों रूपों को स्वीकार किया है। लेकिन उसमें भी निरपेक्षता दो भिन्न-भिन्न अर्थों में रही हुई है। प्रथम प्रकार की निरपेक्षता जो कि वस्तुतः सापेक्ष ही है आचरण के सामान्य नियमों से सम्बन्धित है अर्थात् आचरण के जिन नियमों का विधि और निषेध सामान्य दशा में किया गया है, उस सामान्य दशा की अपेक्षा से आचरण के वे

नियम उसी रूप में आचरणीय हैं। व्यक्ति सामान्य स्थिति में उन नियमों के परिपालन में किसी अपवाद या छूट की अपेक्षा नहीं कर सकता है। वहाँ पर सामान्य दशा का विचार व्यक्ति तथा देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ दोनों के सन्दर्भ में किया गया है अर्थात् यदि व्यक्ति स्वस्थ है और देशकालगत परिस्थितियाँ भी वही हैं, जिनको ध्यान में रखकर विधि या निषेध किया गया था, तो व्यक्ति को उन नियमों तथा कर्तव्यों का पालन भी उसी रूप में करना होगा, जिस रूप में उनका प्रतिपादन किया गया है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में इसे उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। नैतिकता के क्षेत्र में उत्सर्ग मार्ग वह मार्ग है, जिसमें साधक को नैतिक आचरण उसी रूप में करना होता है जिस रूप में शास्त्रों में उसका प्रतिपादन किया गया है। उत्सर्ग नैतिक विधि-निषेधों का सामान्य कथन है। जैसे मन-वचन-काय से हिंसा न करना, न करवाना, न करने वाले का समर्थन करना। लेकिन जब इन्हीं सामान्य विधि-निषेधों के नियमों का किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसी रूप में किया जाना सम्भव नहीं होता तो उन्हें शिथिल कर दिया जाता है। नैतिक आचरण की यह अवस्था अपवाद मार्ग कही जाती है। उत्सर्ग मार्ग अपवाद मार्ग की अपेक्षा से सापेक्ष है लेकिन जिस परिस्थितिगत सामान्यता के तत्त्व को स्वीकार कर इसका निरूपण किया जाता है, उस सामान्यता के तत्त्व की दृष्टि से निरपेक्ष ही होता है। उत्सर्ग की निरपेक्षता देश-काल एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों के अन्दर ही होती है, उससे बाहर नहीं है। उत्सर्ग नैतिक आचरण की विशेष पद्धति है। लेकिन दोनों ही किसी एक लक्ष्य के लिए हैं और इसलिए दोनों ही नैतिक हैं। जिस प्रकार एक नगर को जाने वाले दोनों मार्ग यदि उसी नगर को ही पहुँचाते हों तो दोनों ही मार्ग होंगे, अमार्ग नहीं। उसी प्रकार अपवादात्मक नैतिकता का सापेक्ष स्वरूप और उत्सर्गात्मक नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप दोनों ही नैतिकता के स्वरूप हैं और कोई भी अनैतिक नहीं है। लेकिन निरपेक्षता का एक रूप और है जिसमें वह सदैव ही देशकाल एवं व्यक्तिगत सीमाओं के ऊपर उठी होती है। नैतिकता का वह निरपेक्ष रूप अन्य कुछ नहीं "नैतिक आदर्श" स्वयं ही है। नैतिकता का लक्ष्य ऐसा निरपेक्ष तथ्य है, जो सारे नैतिक आचरणों के मूल्यांकन का आधार है। नैतिक आचरण की शुभाशुभता का अंकन भी इसी पर आधारित है। कोई भी आचरण, चाहे वह उत्सर्ग मार्ग से या अपवाद मार्ग से, हमें इस लक्ष्य की ओर ले जाता है, शुभ है। इसके विपरीत जो भी आचरण हमें इस नैतिक आदर्श से विमुख करता है, अशुभ है, अनैतिक है। सम्यग् नैतिकता इसी के सन्दर्भ में है और इसलिए इसकी अपेक्षा से सापेक्ष है, यही मात्र अपने आप में निरपेक्ष कहा जा सकता है। नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद नामक दोनों मार्ग इसी की अपेक्षा से सापेक्ष होते हैं और इसी के मार्ग होने से निरपेक्ष भी क्योंकि मार्ग के रूप में किसी स्थिति तक इससे अभिन्न भी होते हैं और यही अभिन्नता उनको निरपेक्षता का सच्चा तत्त्व प्रदान करती है। लक्ष्य रूपी जिस सामान्य तत्त्व के आधार पर नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद के दोनों मार्गों का विधान किया गया है, वह मोक्ष की प्राप्ति है।

यदि नैतिक आचरण एक सापेक्ष तथ्य है और देशकाल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों से प्रभावित होता है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि किस स्थिति में किस प्रकार का आचरण किया जाए, इसका निश्चय कैसे किया जाए ? जैन विचारणा कहती है नैतिक आचरण के क्षेत्र

में उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है, जिस पर सामान्य अवस्था में हर एक साधक को चलना होता है। जब तक देशकाल और वैयक्तिक दृष्टि से कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक प्रत्येक व्यक्ति को इस सामान्य मार्ग पर ही चलना होता है, लेकिन विशेष अपरिहार्य परिस्थितियों में वह अपवाद मार्ग पर चल सकता है। लेकिन यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका निर्णय कौन करे कि किस परिस्थिति में अपवाद मार्ग का सेवन किया जा सकता है। यदि इसके निर्णय करने का अधिकार स्वयं व्यक्ति को दे दिया जाता है तो फिर नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता (Objectivity) का अभाव होगा, हर एक व्यक्ति अपनी इच्छाओं के वशीभूत हो अपवाद मार्ग का सहारा लेगा। जैन विचारणा इस क्षेत्र में व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्र नहीं छोड़ती है। वह नैतिक प्रत्ययों को इतना अधिक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) नहीं बना देना चाहती है कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उनको मनमाना रूप दिया जा सके। जैन विचारणा नैतिक मर्यादाओं को यद्यपि इतना कठोर भी नहीं बनाती कि व्यक्ति उनके अन्दर स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण नहीं कर सके लेकिन वे इतनी अधिक लचीली भी नहीं है कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उन्हें मोड़ दे। उपाध्याय अमरमुनिजी के शब्दों में "जैन विचारणा में नैतिक मर्यादाएँ उस खण्डहर दुर्ग के समान नहीं हैं, जिसमें विचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता तो होती है, लेकिन शत्रु के प्रविष्ट होने का भय सदा बना होता है, वरन् सुदृढ़ चारदीवारियों से युक्त उस दुर्ग के समान है जिसके अन्दर व्यक्ति को विचरण की एक सीमित स्वतन्त्रता होती है। जैनदर्शन के अनुसार नैतिकता के इस दुर्ग में द्वारपाल के स्थान पर "गीतार्थ" होता है जो देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समझने में समर्थ हो। जैनागमों में गीतार्थ के सम्बन्ध में कहा गया है, "गीतार्थ वह है जिसे कर्तव्य और अकर्तव्य के लक्षणों का यथार्थरूपेण ज्ञान है।²² जो आय-व्यय, कारण-अकारण, अगाढ़ (रोगी, वृद्ध)- अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान रखता है, साथ ही समस्त कर्तव्य कर्म के परिणामों को भी जानता है वही विधिवान् गीतार्थ है।"²³ यद्यपि जैन नैतिक विचारणा के अनुसार परिस्थिति विशेष में कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण गीतार्थ करता है लेकिन उसके मार्ग निर्देशक के रूप में आगम ग्रन्थ ही होते हैं। यहाँ पर जैन नैतिकता की जो विशेषता हमें देखने को मिलती है वह यह है कि वह न तो एकान्त रूप से शास्त्रों को ही सारे विधि-निषेध का आधार बनाती है और न व्यक्ति को ही। उसमें शास्त्र मार्गदर्शन है लेकिन निर्णायक नहीं। व्यक्ति किसी परिस्थिति विशेष में क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इसका निर्णय तो ले सकता है लेकिन उसके निर्णय में शास्त्र ही उसका मार्गदर्शक होता है।

सन्दर्भ

1. "Act only on that maxim (Principle) which thou canst at the same time will to become a Universal Law."
Fundamental Principles of the Metaphysics of Morals, Sec. II
2. Leviathan, Part II, Chapt. 27, p.13 (Morley's Universal Library edition) -- Hobbes.

3. Thus to save a life it may not only be allowable but a duty to steal.

Mill -- Utilitarianism, Chap. 5, p.95 (15th Ed.)

4. नैतिक जीवन के सिद्धान्त (हिन्दी अनुवाद), पृ० 59
5. विशेष विवेचन के लिये देखिए -- तिलक का गीता रहस्य, कर्म जिज्ञासा, अध्याय 1।
6. अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाण-नय साधनात्।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितात् नयात्।।
- स्वयंभूस्तोत्र, अरजिनस्तवन-18
7. गहना कर्मणो गतिः -- गीता, 4/17
8. (क) जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा।
-- आचारांग, 1/4/2/130
(ख) य एवासवा कर्मबन्धस्थानानि त एव परिस्सवा कर्मनिज्जरा स्पदानि।
-- आचार्य शीलांक आचारांग टीका 1/4/2/130
9. यस्मिन् देशे काले यो धर्मो भवति स निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवत्येव।।
- उद्धृत अमर भारती (मई 1964), पृ० 15
10. Every act has of course, many sides, many relations, many points of view from which it may be regarded, and so many qualities there is not the smallest difficulty in exhibiting it as the realization of either right or wrong. No act in the world is without some side capable of being subsumed under a good rule.
-- Ethical Studies (1962), p. 196.
11. आचारांगसूत्र हिन्दी टीका, प्रथम भाग, पृ० 378, संस्करण 1963
12. उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयित्।।
- अष्टकप्रकरण, 27/5 टीका (उद्धृत अमर भारती, फरवरी, 1965)
13. न वि किञ्चि अणुणात्, पडिसिद्धं वावि जिणवरिदेहिं।
तित्थगराणं आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं।।
- उपदेशपद, 779
14. देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातं शुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्।।146
-- उमास्वाति प्रशमरति-146 (अमर भारती, फरवरी 1965)
15. अमर भारती, फरवरी, 1965, पृ० 5
16. वही, मार्च 1965, पृ० 38
17. ए० ब्रेडले -- एपिकल स्टडीज, पृ० 189
18. एस् धम्मे सुद्धे नितिए सासए। -- आचारांग 1/4/1/127

19. विशेष द्रष्टव्य -- उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय 23
20. महावीर की प्रथम स्त्री शिष्या महासती चन्दनबाला की माता धारिणी के द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा के लिए की गई आत्महत्या को जैन विचारणा में अनुमोदित ही किया गया है। इसी प्रकार महाराजा चेटक के द्वारा न्याय की रक्षा के लिए लड़े गये युद्ध के आधार पर उनके अहिंसा के व्रत को खण्डित नहीं माना गया है।
21. शर्मा, ईश्वरचन्द्र -- पाश्चात्य आचारशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ0 139
22. (अ) अधिगत निशीथादिश्रुत सूत्रार्थ
(ब) गीतो-विज्ञातो कृत्याकृत्य लक्षणोऽर्थो येन स गीतार्थः ।
- अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड 3
23. आयं कारणं गाढं, वत्यु जुत्तं ससत्ति जयणं च ।
सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिं वियाणाह । ।
- बृहत्कल्पनिर्युक्तिभाष्य-951

सदाचार के शाश्वत मानदण्ड और जैनधर्म

- प्रो० सागरमल जैन

सदाचार और दुराचार का अर्थ

जब हम सदाचार के किसी शाश्वत मानदण्ड को जानना चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि सदाचार का तात्पर्य क्या है और किसे हम सदाचार कहते हैं ? शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत्+आचार इन दो शब्दों से मिलकर बना है, अर्थात् जो आचरण सत् (Right) या उचित है वह सदाचार है। फिर भी यह प्रश्न बना रहता है कि सत् या उचित आचरण क्या है ? यद्यपि हम आचरण के कुछ प्रारूपों को सदाचार और कुछ प्रारूपों को दुराचार कहते हैं किन्तु मूल प्रश्न यह है कि वह कौन-सा तत्त्व है जो किसी आचरण को सदाचार या दुराचार बना देता है। हम अक्सर यह कहते हैं कि झूठ बोलना, चोरी करना, हिंसा करना, व्यभिचार करना आदि दुराचार है और करुणा, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्यवादिता आदि सदाचार हैं, किन्तु वह आधार कौन-सा है, जो प्रथम प्रकार के आचरणों को दुराचार और दूसरे प्रकार के आचरणों को सदाचार बना देता है। चोरी या हिंसा क्यों दुराचार है और ईमानदारी या सत्यवादिता क्यों सदाचार है ? यदि हम सत् या उचित के अंग्रेजी पर्याय Right पर विचार करते हैं तो यह शब्द लैटिन शब्द Rectus से बना है, जिसका अर्थ होता है नियमानुसार, अर्थात् जो आचरण नियमानुसार है, वह सदाचार है और जो नियमविरुद्ध है, वह दुराचार है। यहाँ नियम से तात्पर्य सामाजिक एवं धार्मिक नियमों या परम्पराओं से है। भारतीय परम्परा में भी सदाचार शब्द की ऐसी ही व्याख्या मनु-स्मृति में उपलब्ध होती है, मनु लिखते हैं --

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ 2/18

अर्थात् जिस देश, काल और समाज में जो आचरण परम्परा से चला आता है वही सदाचार कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परम्परागत आचार के नियम हैं, उनका पालन करना ही सदाचार है। दूसरे शब्दों में जिस देश, काल और समाज में आचरण की जो परम्पराएँ स्वीकृत रही हैं, उन्हीं के अनुसार आचरण सदाचार कहा जावेगा। किन्तु यह दृष्टिकोण समुचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः कोई भी आचरण किसी देश, काल और समाज में आचरित एवं अनुमोदित होने से सदाचार नहीं बन जाता।

कोई आचरण केवल इसलिए सत् या उचित नहीं होता है कि वह किसी समाज में स्वीकृत होता रहा है, अपितु वास्तविकता तो यह है कि वह इसलिए स्वीकृत होता रहा है

क्योंकि वह सत् है। किसी आचरण का सत् या असत् होना अथवा सदाचार या दुराचार होना स्वयं उसके स्वरूप पर निर्भर होता है न कि उसके आचरित अथवा अनाचरित होने पर। महाभारत में दुर्योधन ने कहा था--

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ॥ शान्तिपर्व

अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उस ओर प्रवृत्त नहीं होता, उसका आचरण नहीं करता। मैं अधर्म को भी जानता हूँ परन्तु उससे निवृत्त नहीं होता हूँ। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि किसी आचरण का सदाचार या दुराचार होना इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह किसी वर्ग या समाज द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत होता रहा है। सदाचार और दुराचार की मूल्यवत्ता उनके परिणामों पर या उस साध्य पर निर्भर होती है, जिसके लिए उनका आचरण किया जाता है। आचरण की मूल्यवत्ता, स्वयं आचरण पर ही नहीं, अपितु उसके साध्य या परिणाम पर निर्भर होती है। किसी आचरण की मूल्यवत्ता का निर्धारण उसके समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर भी किया जाता है, फिर भी उसकी मूल्यवत्ता का अन्तिम आधार तो कोई आदर्श या साध्य पर ही विचार करना होगा जिसके आधार पर किसी कर्म को सदाचार या दुराचार की कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः मानव-जीवन का परम साध्य ही वह तत्त्व है, जो सदाचार का मानदण्ड या कसौटी बनता है। पाश्चात्य आचार दर्शनों में सदाचार और दुराचार के जो मानदण्ड स्वीकृत रहे हैं उन्हें मोटे-मोटे रूप से दो भागों में बाँटा जाता है -- 1. नियमवादी और 2. साध्यवादी। नियमवादी परम्परा सदाचार और दुराचार का मानदण्ड सामाजिक अथवा धार्मिक नियमों को मानती है, जबकि साध्यवादी परम्परा सुख अथवा आत्म-पूर्णता को ही सदाचार और दुराचार की कसौटी मानती है।

जैन-दर्शन में सदाचार का मापदण्ड

जैन-दर्शन मानव के चरम साध्य के बारे में स्पष्ट है। उसके अनुसार व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है। वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा में ले जाता है, वही सदाचार की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में जो आचरण मुक्ति का कारण है वह सदाचार है और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है। किन्तु यहाँ पर हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है ? जैनधर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभाव-दशा एवं आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुतः हमारा जो निज स्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओं को विकसित कर आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारम्परिक शब्दावली में परभाव से हटकर स्वभाव में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैन-दार्शनिकों ने धर्म की एक विलक्षण एवं महत्त्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार धर्म वह है जो वस्तु का निज स्वभाव है (वक्तुसहावो धम्मो)। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सकता है जो उसकी चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निज स्वभाव है उसे पा लेना ही मुक्ति है। अतः उस स्वभाव दशा की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचारण कहा जा सकता है।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है ? भगवती-सूत्र में गौतम ने भगवान महावीर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं -- हे भगवन् ! आत्मा का निज स्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है ? महावीर ने उनके इन प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वह आज भी समस्त जैन आचार-दर्शन में किसी कर्म के नैतिक मूल्यांकन का आधार है। महावीर ने कहा था -- आत्मा समत्व स्वरूप है और उस समत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है। दूसरे शब्दों में समता या समभाव स्वभाव है और विषमता विभाव है और विभाव से स्वभाव की दिशा में अथवा विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। संक्षेप में जैनधर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार का शाश्वत मानदण्ड समता एवं विषमता अथवा स्वभाव एवं विभाव है। स्वभाव दशा से फलित होने वाला आचरण सदाचार है और विभाव-दशा या पर-भाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है।

यहाँ हमें समता के स्वरूप पर भी विचार करें लेना होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से समता का अर्थ पर-भाव से हटकर शुद्ध स्वभाव दशा में स्थित हो जाना है किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समता या समभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक समत्व का अर्थ है समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं से रहित मन की शान्त एवं विशोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक जीवन में फलित होता है तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिक दृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्त दृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिक पक्ष पर विचार करते हैं तो इसे अपरिग्रह के नाम से पुकारते हैं -- 'साम्यवाद' एवं 'न्यासी सिद्धान्त' इसी अपरिग्रह-वृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक क्षेत्र में अनासक्ति या वीतरागता के रूप में, सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा के रूप में, वैचारिकता के क्षेत्र में अनाग्रह या अनेकान्त के रूप में और आर्थिक क्षेत्र में अपरिग्रह के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः समत्व को निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु "समत्व" को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमें उसके विविध पहलुओं पर विचार तो करना ही होगा क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनों से भी होता है जिसके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप में वह हमारे व्यवहार में और सामुदायिक जीवन में प्रकट होता है।

जहाँ तक व्यक्ति के चैत्तासिक या आन्तरिक समत्व का प्रश्न है हम उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृत्ति की साधना मान सकते हैं। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे वैयक्तिक एवं आन्तरिक जीवन से अधिक सम्बन्धित है। वह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण पर भी होता है और हम व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करते समय उसके इस आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते हैं किन्तु सदाचार या दुराचार का यह प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य पक्ष एवं सामुदायिकता के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। जब भी हम सदाचार एवं दुराचार के किसी

मानदण्ड की बात करते हैं तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचरण के बाह्य पक्ष पर अथवा उस आचरण का दूसरों पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है, इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्ता के आन्तरिक मनोभावों या वैयक्तिक जीवन से तो सम्बन्धित नहीं है, वह आचरण के बाह्य प्रारूप तथा हमारे सामाजिक जीवन में उस आचरण के परिणामों पर भी विचार करता है। यहाँ हमें सदाचार और दुराचार की व्याख्या के लिए कोई ऐसी कसौटी खोजनी होगी जो आचार के बाह्य पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक पक्ष को भी अपने में समेट सके। सामान्यतया भारतीय चिन्तन में इस सम्बन्ध में एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है और पर-पीड़ा ही पाप है। तुलसीदास ने इसे निम्न शब्दों में प्रकट किया है --

"परहित सरिस धरम नहीं भाई। पर-पीड़ा सम नहीं अधमाई।।"

अर्थात् वह आचरण जो दूसरों के लिए कल्याणकारी या हितकारी है सदाचार है, पुण्य है और जो दूसरों के लिए अकल्याणकर है, अहितकर है, पाप है, दुराचार है। जैनधर्म में सदाचार के एक ऐसे ही शाश्वत मानदण्ड की चर्चा हमें आचारांग-सूत्र में उपलब्ध होती है। वहाँ कहा गया है -- "भूतकाल में जितने अर्हत हो गये हैं, वर्तमान काल में जितने अर्हत हैं और भविष्य में जितने अर्हत होंगे वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध नित्य और शाश्वत धर्म है।" किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा नहीं करने के रूप में अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को या दूसरों के हित-साधन को ही सदाचार की कसौटी नहीं माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ तब सम्भव हैं कि जबकि मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक आचरण के द्वारा दूसरों का हित-साधन होता हो, अथवा कम से कम किसी का अहित न होता हो, किन्तु क्या हम ऐसे आचरण को सदाचार कहने का साहस कर सकेंगे ? क्या वेश्यावृत्ति के माध्यम से अपार धनराशि एकत्र कर उसे लोकहित के लिए व्यय करने मात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि में आ सकेगी ? क्या यौन-वासना की संतुष्टि के वे रूप जिसमें किसी भी दूसरे प्राणी की प्रकट में हिंसा नहीं होती है, दुराचार की कोटि में नहीं आवेंगे ? सूत्र-कृतांग में सदाचारिता का एक ऐसा ही दावा अन्य तैयिकों द्वारा प्रस्तुत भी किया गया था, जिसे भगवान महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को, जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों में वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे ? एक चोर और एक सन्त दोनों ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते हैं फिर भी दोनों समान कोटि के नहीं माने जाते। वस्तुतः सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नहीं होता है। उसमें आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् कर्ता की मनोदशा और आचरण का बाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनों ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता, विचार पर और विचार या मनोभावों की शुभाशुभता, स्वयं व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा चाहिए जो इन दोनों को समाविष्ट कर सके।

साधारणतया जैनधर्म सदाचार का शाश्वत मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ हमें यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दुःख या पीड़ा नहीं देना या किसी की हत्या नहीं करना, मात्र यही अहिंसा है। यदि अहिंसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है, तो फिर वह सदाचार और दुराचार का मानदण्ड नहीं बन सकती, यद्यपि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये वे तो केवल शिष्य-बोध के लिए हैं, मूलतः तो वे सब हिंसा ही है (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)। वस्तुतः जैन आचार्यों ने अहिंसा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचारा है। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। उसका सम्बन्ध व्यक्ति से भी है और समाज से भी। हिंसा को जैन-परम्परा में स्व की हिंसा और पर की हिंसा ऐसे दो भागों में बाँटा गया है। जब वह हमारे स्व-स्वरूप या स्वभाव दशा का घात करती है तो स्व-हिंसा है और जब दूसरों के हितों को चोट पहुँचाती है, तो वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप में वह आन्तरिक पाप है, तो पर की हिंसा के रूप में वह सामाजिक पाप। किन्तु उसके ये दोनों रूप दुराचार की कोटि में ही आते हैं। अपने इस व्यापक अर्थ में हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

सदाचार के शाश्वत मानदण्ड की समस्या

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सदाचार का कोई शाश्वत मानदण्ड हो सकता है। वस्तुतः सदाचार और दुराचार के मानदण्ड का निश्चय कर लेना इतना सहज नहीं है। यह सम्भव है कि जो आचरण किसी परिस्थिति विशेष में सदाचार कहा जाता है, वही दूसरी परिस्थिति में दुराचार बन जाता है और जो सामान्यतया दुराचार कहे जाते हैं वे किसी परिस्थिति विशेष में सदाचार हो जाते हैं। शील रक्षा हेतु की जाने वाली आत्महत्या सदाचार की कोटि में आ जाती है जबकि सामान्य स्थिति में वह अनैतिक (दुराचार) मानी जाती है। जैन आचार्यों का तो यह स्पष्ट उद्घोष है -- "जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा", अर्थात् आचार के जो प्रारूप सामान्यतया बन्धन के कारण हैं, वे ही परिस्थिति विशेष में मुक्ति के साधन बन जाते हैं और इसी प्रकार सामान्य स्थिति में जो मुक्ति के साधन हैं, वे ही किसी परिस्थिति विशेष में बन्धन के कारण बन जाते हैं। प्रश्नमरतिप्रकरण (146) में उमास्वाति का कथन है --

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान् ।

प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥

अर्थात् एकान्त रूप से न तो कोई कर्म आचरणीय होता है और न एकान्त रूप से अनाचरणीय होता है, वस्तुतः किसी कर्म की आचरणीयता और अनाचरणीयता देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति और मनःस्थिति पर निर्भर होती है। महाभारत में भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया गया है, उसमें लिखा है--

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।

आदानमनृतं हिंसा धर्मोह्यावस्थिकस्मृतः ॥ - शान्तिपर्व, 36/11

अर्थात् जो किसी देश और काल में धर्म (सदाचार) कहा जाता है, वही किसी दूसरे देश और काल में अधर्म (दुराचार) बन जाता है और जो हिंसा, झूठ, चौर्यकर्म आदि सामान्य अवस्था में अधर्म (दुराचार) कहे जाते हैं, वही किसी परिस्थिति विशेष में धर्म बन जाते हैं। वस्तुतः कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हो जाती हैं, जब सदाचार, दुराचार की कोटि में और दुराचार, सदाचार की कोटि में होता है। द्रौपदी का पाँचों पांडवों के साथ जो पति-पत्नी का सम्बन्ध था फिर भी उसकी गणना सदाचारी सती स्त्रियों में की जाती है, जबकि वर्तमान समाज में इस प्रकार का आचरण दुराचार ही कहा जावेगा। किन्तु क्या इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सदाचार-दुराचार का कोई शाश्वत मानदण्ड नहीं हो सकता है। वस्तुतः सदाचार या दुराचार के किसी मानदण्ड का एकान्त रूप से निश्चय कर पाना कठिन है। जो बाहर नैतिक दिखाई देता है, वह भीतर से अनैतिक हो सकता है और जो बाहर से अनैतिक दिखाई देता है, वह भीतर से नैतिक हो सकता है। एक ओर तो व्यक्ति की आन्तरिक मनोवृत्तियाँ और दूसरी ओर जागतिक परिस्थितियाँ किसी कर्म की नैतिक मूल्यवत्ता को प्रभावित करती रहती हैं। अतः इस सम्बन्ध में कोई एकान्त नियम कार्य नहीं करता है। हमें उन सब पहलुओं पर भी ध्यान देना होता है जो कि किसी कर्म की नैतिक मूल्यवत्ता को प्रभावित कर सकते हैं। जैन विचारकों ने सदाचार या नैतिकता के परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों पक्षों पर विचार किया है।

सदाचार के मानदण्ड की परिवर्तनशीलता का प्रश्न

वस्तुतः सदाचार के मानदण्डों में परिवर्तन देशिक और कालिक आवश्यकता के अनुरूप होता है। महाभारत में कहा गया है कि --

अन्ये कृत्युगे धर्मस्त्रेतायां द्वपरेऽपरे ।

अन्ये कलियुगे नृणां युग हासानुरूपतः ॥ शान्तिपर्व, 260/8

युग के हास के अनुरूप सतयुग, त्रेता, द्वपर और कलियुग के धर्म अलग-अलग होते हैं। यह परिस्थितियों के परवर्तन से होने वाला मूल्य परिवर्तन एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही होगा। यह सही है कि मनुष्य को जिस विश्व में जीवन जीना होता है वह परिस्थिति निरपेक्ष नहीं है। देशिक एवं कालिक परिस्थितियों के परिवर्तन हमारी सदाचार सम्बन्धी धारणाओं को प्रभावित करते हैं। देशिक और कालिक परिवर्तन के कारण यह सम्भव है कि जो कर्म एक देश और काल में विहित हों, वहीं दूसरे देश और काल में अविहित हो जावें। अष्टकप्रकरण की टीका (27/5) में कहा गया है --

उत्पद्यते ही साऽवस्था देशकालाभयान् प्रति ।

वस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च कर्जित् ॥

देशिक और कालिक स्थितियों के परिवर्तन से ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसमें कार्य, अकार्य की कोटि में और अकार्य, कार्य की कोटि में आ जाता है, किन्तु यह अवस्था सामान्य अवस्था नहीं, अपितु कोई विशिष्ट अवस्था होती है, जिसे हम आपवादिक

अवस्था के रूप में जानते हैं, किन्तु आपवादिक स्थिति में होने वाला यह परिवर्तन सामान्य स्थिति में होने वाले मूल्य परिवर्तन से भिन्न स्वरूप का होता है। उसे वस्तुतः मूल्य परिवर्तन कहना भी कठिन है। इसमें जिन मूल्यों का परिवर्तन होता है, वे मुख्यतः साधन मूल्य होते हैं। क्योंकि साधन मूल्य आचरण से सम्बन्धित होते हैं और आचरण परिस्थिति निरपेक्ष नहीं हो सकता। अतः उसमें परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार साधन परम आचरण के नैतिक मानदण्ड परिवर्तित होते रहते हैं।

दूसरे, व्यक्ति को समाज में जीवन जीना होता है और समाज परिस्थिति निरपेक्ष नहीं होता है अतः सामाजिक नैतिकता अपरिवर्तनीय नहीं कही जा सकती, उसमें देशकालगत परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है किन्तु उसकी यह परिवर्तनशीलता भी देशकाल सापेक्ष ही होती है। वस्तुतः किसी परिस्थिति में किसी एक साध्य का नैतिक मूल्य इतना प्रधान हो जाता है कि उसकी सिद्धि के लिए किसी दूसरे नैतिक मूल्य का निषेध आवश्यक हो जाता है जैसे अन्याय के प्रतिकार के लिए हिंसा। किन्तु यह निषेध परिस्थिति विशेष तक ही सीमित रहता है। उस परिस्थिति के सामान्य होने पर धर्म पुनः धर्म बन जाता है और अधर्म, अधर्म बन जाता है। वस्तुतः आपवादिक अवस्था में कोई एक मूल्य इतना प्रधान प्रतीत होता है कि उसकी उपलब्धि के लिए हम अन्य मूल्यों की उपेक्षा कर देते हैं अथवा कभी-कभी सामान्य रूप से स्वीकृत उसी मूल्य के विरोधी तथ्य को हम उसका साधन बना लेते हैं। उदाहरण के लिए जब हमें जीवन रक्षण ही एकमात्र मूल्य प्रतीत होता है तो उस अवस्था में हम हिंसा, असत्य-भाषण, चोरी आदि को अनैतिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार अपवाद की अवस्था में एक मूल्य साध्य स्थान पर चला जाता है और अपने साधनों को मूल्यवत्ता प्रदान करता प्रतीत होता है, किन्तु यह मूल्य भ्रम ही है, उस समय भी चोरी या हिंसा मूल्य नहीं बन जाते हैं क्योंकि उनका स्वतः कोई मूल्य नहीं है, वे तो उस साध्य की मूल्यवत्ता के कारण मूल्य के रूप में प्रतीत या आभासित होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा के स्थान पर हिंसा या सत्य के स्थान पर असत्य नैतिक मूल्य बन जाते हैं। साधुजन की रक्षा के लिए दुष्टजन की हिंसा की जा सकती है किन्तु इससे हिंसा मूल्य नहीं बन जाती है। किसी प्रत्यय की नैतिक मूल्यवत्ता उसके किसी परिस्थिति विशेष में आचरित होने या नहीं होने से अप्रभावित भी रह सकती है। प्रथम तो यह कि अपवाद की मूल्यवत्ता केवल उस परिस्थिति विशेष में ही होती है, उसके आधार पर सदाचार का कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। साथ ही जब व्यक्ति आपद्धर्म का आचरण करता है तब भी उसकी दृष्टि में मूल नैतिक नियम या सदाचार की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह तो परिस्थितिगत या व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण उसे वह आचरण करना पड़ रहा है। दूसरे सार्वभौम नियम में और अपवाद में अन्तर है। अपवाद की यदि कोई मूल्यवत्ता है, तो वह केवल विशिष्ट परिस्थिति में ही रहती है, जबकि सामान्य नियम की मूल्यवत्ता सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन होती है। अतः आपद्धर्म या अपवाद मार्ग की स्वीकृति जैनधर्म में मूल्य परिवर्तन की सूचक नहीं है। यह सामान्यतया किसी मूल्य को न तो निर्मूल्य करती है और न मूल्य संस्थान में उसे अपने स्थान से पदच्युत ही करती है, अतः वह मूल्यानन्तरण भी नहीं है।

नैतिक कर्म के दो पक्ष होते हैं -- एक बाह्यपक्ष, जो आचरण के रूप में होता है और दूसरा आन्तरिक पक्ष, जो कर्ता के मनोभावों के रूप में होता है। अपवादमार्ग का सम्बन्ध केवल बाह्य पक्ष से होता है, अतः उससे किसी नैतिक मूल्य की मूल्यवत्ता प्रभावित नहीं होती है। कर्म का मात्र बाह्य पक्ष उसे कोई नैतिक मूल्य प्रदान नहीं करता है।

सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता का अर्थ

सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता पर विचार करते समय सबसे पहले हमें यह निश्चित कर लेना होगा कि उनकी परिवर्तनशीलता से हमारा क्या तात्पर्य है ? कुछ लोग परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति से लेते हैं। आज जब पाश्चात्य विचारकों के द्वारा नैतिक मूल्यों को सांवेगिक अभिव्यक्ति या वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन एवं रुचि का पर्याय माना जा रहा हो, तब परिवर्तनशीलता का अर्थ स्वयं उनकी मूल्यवत्ता को नकारना ही होगा। आज सदाचार की मूल्यवत्ता स्वयं अपने अर्थ की तलाश कर रही है। यदि सदाचार की धारणा अर्थहीन है, मात्र सामाजिक अनुमोदन है, तो फिर उसकी परिवर्तनशीलता का भी कोई विशेष अर्थ नहीं रह जाता है क्योंकि यदि सदाचार के मूल्यों का यथार्थ एवं वस्तुगत अस्तित्व ही नहीं है, यदि वे मात्र मनोकल्पनाएँ हैं तो उनके परिवर्तन का ठोस आधार भी नहीं होगा ? दूसरे, जब हम सदाचार-दुराचार, शुभ-अशुभ अथवा औचित्य-अनौचित्य के प्रत्ययों को वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुमोदन या पसन्दगी किंवा नापसन्दगी के रूप में देखते हैं तो उनकी परिवर्तनशीलता का अर्थ फैशन की परिवर्तनशीलता से अधिक नहीं रह जावेगा।

किन्तु क्या सदाचार की मूल्यवत्ता पर ही कोई प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है ? क्या नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान है, जिन्हें जब चाहे तब और जैसा चाहे वैसा बदला जा सकता है। आयेँ जरा इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीर चर्चा करें।

सर्वप्रथम तो आज जिस परिवर्तनशीलता की बात कही जा रही है, उससे तो स्वयं सदाचार के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न हो गई है। आज का मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं की पूर्ति के लिए विवेक एवं संयम की नियामक मर्यादाओं की अवहेलना को ही मूल्य परिवर्तन मान रहा है। वर्षों के चिन्तन और साधना से फलित ये मर्यादाएँ आज उसे कारा लग रही हैं और इन्हें तोड़ फेंकने में ही उसे मूल्य-क्रान्ति परिलक्षित हो रही है। स्वतन्त्रता के नाम पर वह अतंत्रता और अराजकता को ही मूल्य मान बैठा है, किन्तु यह सब मूल्य विभ्रम या मूल्य विपर्यय ही है जिसके कारण नैतिक मूल्यों के निर्मूल्यीकरण को ही परिवर्तन कहा जा रहा है। किन्तु हमें यह समझ लेना होगा कि मूल्य-संक्रमण या मूल्यान्तरण मूल्य-निषेध नहीं है। परिवर्तनशीलता का तात्पर्य स्वयं नीति के मूल्य होने में अनास्था नहीं है। यह सत्य है कि नैतिक मूल्यों में और नीति सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन हुए हैं और होते रहेंगे, किन्तु मानव इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं है, जब स्वयं नीति की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार किया गया हो। वस्तुतः नैतिक मूल्यों या सदाचार के मानदण्डों की परिवर्तनशीलता में भी कुछ ऐसा

अवश्य है, जो बना रहता है और वह है, स्वयं उनकी मूल्यवत्ता। नैतिक मूल्यों की विषयवस्तु बदलती रहती है, किन्तु उनका मूल आधार बना रहता है। मात्र इतना ही नहीं, कुछ मूल्य ऐसे भी हैं, जो अपनी मूल्यवत्ता को नहीं खोते हैं, मात्र उनकी व्याख्या के सन्दर्भ एवं अर्थ बदलते हैं।

आज स्वयं सदाचार या नैतिकता की मूल्यवत्ता के निषेध की बात दो दिशाओं से खड़ी हुई है एक और भौतिकवादी और साम्यवादी दर्शनों के द्वारा और दूसरी ओर पाश्चात्य अर्थ विश्लेषणवादियों के द्वारा। यह कहा जाता है कि वर्तमान में साम्यवादी-दर्शन नीति की मूल्यवत्ता को अस्वीकार करता है, किन्तु इस सम्बन्ध में स्वयं लेनिन का वक्तव्य दृष्टव्य है। वे कहते हैं -- "प्रायः यह कहा जाता है कि हमारा अपना कोई नीति-शास्त्र नहीं है, बहुधा मध्य विलीय वर्ग कहता है कि हम सब प्रकार के नीति-शास्त्र का खण्डन करते हैं, किन्तु उनका यह तरीका विचारों का भ्रष्ट करना है, श्रमिकों और कृषकों की आँख में धूल झाँकना है। हम उसका खण्डन करते हैं जो ईश्वरीय आदेशों से नीति-शास्त्रों को आविर्भूत करता है। हम कहते हैं कि यह धोखाधड़ी है और श्रमिकों तथा कृषकों के मस्तिष्कों को पूँजीपतियों तथा भू-पतियों के स्वार्थ के लिए सन्देह में डालता है। हम कहते हैं कि हमारा नीति-शास्त्र सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष के हितों के अधीन है, जो शोषक समाज को नष्ट करे, जो श्रमिकों को संगठित करे और साम्यवादी समाज की स्थापना करे, वही नीति है (शेष सब अनीति है)।" इस प्रकार साम्यवादी दर्शन नैतिक मूल्यों का मूल्यान्तरण तो करता है, किन्तु स्वयं नीति की मूल्यवत्ता का निषेध नहीं करता है। वह उस नीति का समर्थक है जो अन्याय एवं शोषण की विरोधी है और सामाजिक समता की संस्थापक है, जो पीड़ित और शोषित को अपना अधिकार दिलाती है और सामाजिक न्याय की स्थापना करती है। वह सामाजिक न्याय और आर्थिक समता की स्थापना को ही सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करती है। अतः वह सदाचार और दुराचार की धारणा को अस्वीकार नहीं करती है।

वह भौतिकवादी दर्शन, जो सामाजिक एवं साहचर्य एवं साहचर्य के मूल्यों का समर्थक है, नीति की मूल्यवत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। यदि हम मनुष्य को एक विवेकवान सामाजिक प्राणी मानते हैं, तो हमें नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार करना होगा। वस्तुतः नीति का अर्थ है किन्हीं विवेकपूर्ण साध्यों की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आचार और व्यवहार के किन्हीं ऐसे आदर्शों एवं मर्यादाओं की स्वीकृति, जिसके अभाव में मानव की मानवता और मानवीय समाज का अस्तित्व ही खतरे में होगा, यदि नीति की मूल्यवत्ता का या सदाचार की धारणा का निषेध कोई दृष्टि कर सकती है तो वह मात्र पाशविक भोगवादी दृष्टि है, किन्तु यह दृष्टि मनुष्य को एक पशु से अधिक नहीं मानती है। यह सत्य है कि यदि मनुष्य मात्र पशु है तो नीति का, सदाचार का कोई अर्थ नहीं है, किन्तु क्या आज मनुष्य का अवमूल्यन पशु के स्तर पर किया जा सकता है ? क्या मनुष्य निरा पशु है ? यदि मनुष्य निरा पशु होता तो वह पूरी तरह प्राकृतिक नियमों से शासित होता और निश्चय ही उसके लिए सदाचार की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु आज का मनुष्य पूर्णतः प्राकृतिक नियमों से शासित नहीं है वह तो प्राकृतिक नियमों एवं मर्यादाओं की अवहेलना करता है। अतः

पशु भी नहीं है। उसकी सामाजिकता भी उसके स्वभाव से निसृत नहीं है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी सामाजिकता उसके बुद्धितत्त्व का प्रतिफल है, जैसी कि यूथचारी प्राणियों में होती है। उसकी सामाजिकता उसके बुद्धि तत्त्व का प्रतिफल है, वह विचार की देन है, स्वभाव की नहीं। यही कारण है कि वह समाज का और सामाजिक मर्यादाओं का सर्जक भी है और संहारक भी है, वह उन्हें स्वीकार भी करता है और उनकी अवहेलना भी करता है, अतः वह समाज से ऊपर भी है। ब्रेडले का कथन है कि यदि मनुष्य सामाजिक नहीं है तो वह मनुष्य ही नहीं है, किन्तु यदि वह केवल सामाजिक है तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता उसके अति सामाजिक एवं नैतिक प्राणी होने में है। अतः मनुष्य के लिए सदाचार की मूल्यवत्ता की अस्वीकृति असम्भव है। यदि हम परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता को ही अस्वीकार करेंगे तो वह मानवीय संस्कृति का ही अवमूल्यन होगा। मात्र अवमूल्यन ही नहीं, उसकी इतिथ्री भी होगी।

पुनश्च सदाचार की धारणाओं को सांवेगिक अभिव्यक्ति या रुचि सापेक्ष मानने पर भी, न तो सदाचार की मूल्यवत्ता को निरस्त किया जा सकता है और न सदाचार एवं दुराचार के मानदण्डों को फैशनों के समान परिवर्तनशील माना जा सकता है। यदि सदाचार और दुराचार का आधार पसन्दगी या रुचि है तो फिर पसन्दगी या नापसन्दगी के भावों की उत्पत्ति का आधार क्या है ? क्यों हम चौर्य कर्म को नापसन्द करते हैं और क्यों ईमानदारी को पसन्द करते हैं ? सदाचार एवं दुराचार की व्याख्या मात्र पसन्दगी और नापसन्दगी के रूप में नहीं की जा सकती। मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी अथवा रुचि केवल मन की मौज या मन की तरंग (whim) पर निर्भर नहीं है। इन्हें पूरी तरह आत्मनिष्ठ (Subjective) नहीं माना जा सकता, इनके पीछे एक वस्तुनिष्ठ आधार भी होता है। आज हमें उन आधारों का अन्वेषण करना होगा, जो हमारी पसन्दगी और नापसन्दगी को बनाते या प्रभावित करते हैं। वे कुछ आदर्श, सिद्धान्त दृष्टियाँ या मूल्य-बोध हैं, जो हमारी पसन्दगी या नापसन्दगी को बनाते हैं और जिनके आधार पर हमारी रुचियाँ सृजित होती हैं। मानवीय रुचियाँ और मानवीय पसन्दगी या नापसन्दगी आकस्मिक एवं प्राकृतिक (Natural) नहीं है। जो तत्त्व इनको बनाते हैं, उनमें नैतिक मूल्य या सदाचार की अवधारणाएँ भी हैं। ये पूर्णतया व्यक्ति और समाज की रचना भी नहीं है, अपितु व्यक्ति के मूल्य संस्थान के बोध से भी उत्पन्न होती है। वस्तुतः मूल्यों की सत्ता अनुभव की पूर्ववर्ती है, मनुष्य मूल्यों का द्रष्टा है, सृजक नहीं। अतः पसन्दगी की इस धारणा के आधार पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता को निरस्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे यदि हम औचित्य एवं अनौचित्य या सदाचार-दुराचार का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों से सामाजिक हित क्यों श्रेष्ठ एवं वरेण्य है ? इस प्रश्न का हमारे पास क्या उत्तर होगा ? सामाजिक हितों की वरेण्यता का उत्तर सदाचार के किसी शाश्वत मानदण्ड को स्वीकार किये बिना नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार परिवर्तनशीलता के नाम पर स्वयं सदाचार की मूल्यवत्ता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। सदाचार के मूल्यों के अस्तित्व की स्वीकृति में ही उनकी परिवर्तनशीलता का कोई अर्थ हो सकता है, उनके नकारने में नहीं है।

यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज भी सदाचार के किसी मानदण्ड का सृजक नहीं है। अक्सर यह कहा जाता है कि सदाचार या दुराचार की धारणा समाज-सापेक्ष है। एक उर्दू के शायर ने कहा है--

बजा कहे आत्म उसे बजा समझो ।

जबानए खल्क को नक्कारए खुदा समझो ॥

अर्थात् जिसे समाज उचित कहता है उसे उचित और जिसे अनुचित कहता है उसे अनुचित मानो क्योंकि समाज की आवाज ईश्वर की आवाज है। सामान्यतया सामाजिक मानदण्डों को सदाचार का मानदण्ड मान लिया जाता है किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह बात प्रामाणिक सिद्ध नहीं होती है। समाज किन्हीं आचरण के प्रारूपों को विहित या अविहित मान सकता है किन्तु सामाजिक विहितता और अविहितता नैतिक औचित्य या अनौचित्य से भिन्न है। एक कर्म अनैतिक होते हुए भी विहित माना जा सकता है अथवा नैतिक होते हुए भी अविहित माना जा सकता है। कंजर जाति में चोरी, आदिम कबीलों में नरबलि या मुस्लिम समाज में बहु-पत्नी प्रथा विहित है। राजपूतों में लड़की को जन्मते ही मार डालना कभी विहित रहा था। अनेक देशों में वेश्यावृत्ति, सम-लैंगिकता या मद्यपान आज भी विहित और वैधानिक है -- किन्तु क्या इन्हें नैतिक कहा जा सकता है। क्या आचार के ये रूप सदाचार की कोटि में जा सकते हैं ? नग्नता को, शासनतन्त्र की आलोचना को, अविहित एवं अवैधानिक माना जा सकता है, किन्तु इससे नग्न रहना या शासक वर्ग के गलत कार्यों की आलोचना करना अनैतिक मान लेने मात्र से वह सदाचार की कोटि में नहीं आ जाता। गर्भपात वैधानिक हो सकता है लेकिन नैतिक कभी नहीं। नैतिक मूल्यवत्ता निष्पक्ष विवेक के प्रकाश में आलोक्ति होती है। वह सामाजिक विहितता या वैधानिकता से भिन्न है। समाज किसी कर्म को विहित या अविहित बना सकता है, किन्तु उचित या अनुचित नहीं।

यद्यपि सदाचार के मानदण्डों में परिवर्तन होता है किन्तु उनकी परिवर्तनशीलता फैशनों की परिवर्तनशीलता के समान भी नहीं है, क्योंकि नैतिक मूल्य या सदाचार के मानदण्ड मात्र रुचि सापेक्ष न होकर स्वयं रुचियों के सृजक भी हैं। अतः जिस प्रकार रुचियाँ या तद्जनित फैशन बदलते हैं वैसे ही सदाचार के मानदण्ड नहीं बदलते हैं। यह सही है कि उनमें देश, काल एवं परिस्थितियों के आधार पर कुछ परिवर्तन होता है किन्तु फिर भी उनमें एक स्थायी तत्त्व होता है। अहिंसा, न्याय, आत्म-त्याग, संयम आदि अनेक नैतिक मूल्य या सदाचार के प्रत्यय ऐसे हैं, जिनकी मूल्यवत्ता सभी देशों एवं कालों में समान रूप से स्वीकृत रही है। यद्यपि इनमें अपवाद माने गये हैं, किन्तु अपवाद की स्वीकृति इनकी मूल्यवत्ता का निषेध नहीं होकर, वैयक्तिक असमर्थता अथवा परिस्थिति विशेष में उनकी सिद्धि की विवशता की ही सूचक है। अपवाद, अपवाद है, वह मूल नियम का निषेध नहीं है। जैन-दर्शन उत्सर्ग मार्ग और अपवाद-मार्ग का विधान करता है उसमें उत्सर्ग मार्ग को शाश्वत और अपवाद मार्ग को परिवर्तनशील मानता है। इस प्रकार कुछ नैतिक मूल्य या सदाचार की धारणाएँ अवश्य ही ऐसी हैं जो सार्वभौम और अपरिवर्तनीय हैं। प्रथमतः सदाचार की धारणाओं में बहुत ही कम

परिवर्तन होता है और यदि होता भी है तो कहीं अधिक स्वामित्व लिए हुए होता है। फैशन एक दशाब्दी से दूसरी दशाब्दी में ही नहीं, अपितु दिन-प्रतिदिन बदलते रहते हैं, किन्तु नैतिक मूल्य या सदाचार सम्बन्धी धारणाएँ इस प्रकार नहीं बदलती हैं। ग्रीक नैतिक मूल्यों का ईसाइयत के द्वारा तथा भारतीय वैदिक युग के मूल्यों का औपनिषदिक एवं जैन-बौद्ध संस्कृतियों के द्वारा आंशिक रूप से मूल्यान्तरण अवश्य हुआ है किन्तु श्रमण संस्कृति तथा जैनधर्म के द्वारा स्वीकृत मूल्यों का इन दो हजार वर्षों में भी मूल्यान्तरण नहीं हो सका है। इन्होंने सदाचार या दुराचार के जो मानदण्ड स्थिर किये थे वे आज भी स्वीकृत हैं। आज आमूल परिवर्तन के नाम पर उनके उखाड़ फेंकने की जो बात कही जा रही है, वह भ्रान्तिजनक ही है। मूल्य विश्व में आमूल परिवर्तन या निरपेक्ष परिवर्तन सम्भव ही नहीं होता है। नैतिक मूल्यों या सदाचार की धारणाओं के सन्दर्भ में जिस प्रकार का परिवर्तन होता है वह एक सापेक्ष और सीमित प्रकार का परिवर्तन है। इसमें दो प्रकार के परिवर्तन परिलक्षित होते हैं-- परिवर्तन का एक रूप वह होता है, जिसमें कोई नैतिक मूल्य विवेक के विकास के साथ व्यापक अर्थ ग्रहण करता जाता है तथा उसके पुराने अर्थ अनैतिक और नये अर्थ नैतिक माने जाने लगते हैं, जैसा कि अहिंसा और परार्थ के प्रत्ययों के साथ हुआ है। एक समय में इन प्रत्ययों का अर्थ विस्तार परिजनों, स्वजातियों एवं स्वधर्मियों तक सीमित था। आज वह राष्ट्रीयता या स्वराष्ट्र तक विकसित होता हुआ सम्पूर्ण मानव जाति एवं प्राणी जगत् तक अपना विस्तार पा रहा है। आत्मीय परिजनों, जाति बन्धुओं एवं सधर्मी बन्धुओं का हित साधन करना किसी युग में नैतिक माना जाता था किन्तु आज हम उसे भाई-भतीजावाद, जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद कहकर अनैतिक मानते हैं। आज राष्ट्रीय हित साधन नैतिक माना जाता है, किन्तु आने वाले कल में यह भी अनैतिक माना जा सकता है। यही बात अहिंसा के प्रत्यय के साथ भी घटित हुई है, आदिम कबीलों में परिजनों की हिंसा ही हिंसा मानी जाती थी, आगे चलकर मनुष्य की हिंसा को हिंसा माना जाने लगा, वैदिक धर्म एवं यहूदी धर्म ही नहीं, ईसाई धर्म भी, अहिंसा के प्रत्यय को मानव जाति से अधिक अर्थ-विस्तार नहीं दे पाया, किन्तु वैष्णव परम्परा में अहिंसा का प्रत्यय प्राणी जगत् तक और जैन-परम्परा में वनस्पति जगत् तक अपना अर्थ-विस्तार पा गया। इस प्रकार नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक अर्थ उनके अर्थों को विस्तार या संकोच देना भी है। इसमें मूलभूत प्रत्यय की मूल्यवत्ता बनी रहती है, केवल उसके अर्थ विस्तार या संकोच ग्रहण करते जाते हैं। नरबलि, पशुबलि या विधर्मी की हत्या हिंसा है या नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर लोगों के विचारों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु इससे न्याय की मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती है। यौन नैतिकता के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का अर्थ-विस्तार या अर्थ-संकोच हुआ है। इसकी एक अति यह रही है कि एक ओर पर-पुरुष का दर्शन भी पाप माना गया तो दूसरी ओर स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को भी विहित माना गया। किन्तु इन दोनों अतियों के बावजूद भी पति-पत्नी सम्बन्ध में प्रेम, निष्ठा एवं त्याग के तत्त्वों की अनिवार्यता सर्वमान्य रही तथा संयम एवं ब्रह्मचर्य की मूल्यवत्ता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगाया गया।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता का एक रूप वह होता है, जिसमें किसी मूल्य की मूल्यवत्ता को अस्वीकार नहीं किया जाता, किन्तु उनका पदक्रम बदलता रहता है अर्थात् मूल्यों

का निर्मूल्यीकरण नहीं होता अपितु उनका स्थान संक्रमण होता है। किसी युग में जो नैतिक गुण प्रमुख माने जाते रहे हों, वे दूसरे युग में गौण हो सकते हैं और जो मूल्य गौण थे, वे प्रमुख हो सकते हैं। उच्च मूल्य निम्न स्थान पर तथा निम्न मूल्य उच्च स्थान पर या साध्य मूल्य साधन स्थान पर तथा साधन मूल्य साध्य स्थान पर आ-जा सकते हैं। कभी न्याय का मूल्य प्रमुख और अहिंसा का मूल्य गौण था -- न्याय की स्थापना के लिए हिंसा को विहित माना जाता था-- किन्तु जब अहिंसा का प्रत्यय प्रमुख बन गया तो अन्याय को सहन करना भी विहित माने जाने लगा। ग्रीक मूल्यों के स्थान पर ईसाइयत के मूल्यों की स्थापना में ऐसा ही परिवर्तन हुआ है। आज साम्यवादी-दर्शन सामाजिक न्याय के हेतु खूनी क्रान्ति की उपादेयता की स्वीकृति के द्वारा पुनः अहिंसा के स्थान पर न्याय को ही प्रमुख मूल्य के पद पर स्थापित करना चाहता है। किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि ग्रीक सभ्यता में या साम्यवादी-दर्शन में अहिंसा पूर्णतया निर्मूल्य है या ईसाइयत में न्याय का कोई स्थान ही नहीं है। मात्र होता यह है कि युग की परिस्थिति के अनुरूप मूल्य-विश्व के कुछ मूल्य उभरकर प्रमुख बन जाते हैं और दूसरे उनके परिपार्श्व में चले जाते हैं। मात्र इतना ही नहीं, कभी-कभी बाहर से परस्पर विरोध में स्थित दो मूल्य वस्तुतः विरोधी नहीं होते हैं -- जैसे न्याय और अहिंसा। कभी-कभी न्याय की स्थापना के लिए हिंसा का सहारा लिया जाता है, किन्तु इससे मूलतः वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि अन्याय भी तो हिंसा ही है। साम्यवाद और प्रजातन्त्र के राजनैतिक-दर्शनों का विरोध मूल्य-विरोध नहीं, मूल्यों की प्रधानता का विरोध है। साम्यवाद के लिए रोटी और सामाजिक न्याय प्रधान मूल्य है और स्वतन्त्रता गौण मूल्य है, जबकि प्रजातन्त्र में स्वतन्त्रता प्रधान मूल्य है और रोटी गौण मूल्य है। आज स्वच्छन्द यौनाचार का समर्थन भी संयम के स्थान पर स्वतन्त्रता (अतन्त्रता) को ही प्रधान मूल्य मानने के एक अतिवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। सुखवाद और बुद्धिवाद का मूल्य-विवाद भी ऐसा ही है, न तो सुखवाद बुद्धितत्त्व को निर्मूल्य मानता है और न बुद्धिवाद सुख को निर्मूल्य मानता है। मात्र इतना ही है कि सुखवाद में सुख प्रधान मूल्य है और बुद्धि गौण मूल्य है जबकि बुद्धिवाद में विवेक प्रधान मूल्य है और सुख गौण मूल्य है। इस प्रकार मूल्य-परिवर्तन का अर्थ उनके तारतम्य में परिवर्तन है, जो कि एक प्रकार का सापेक्षिक परिवर्तन ही है।

कभी-कभी मूल्य विपर्यय को ही मूल्य परिवर्तन मानने की भूल की जाती है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि मूल्य विपर्यय मूल्य परिवर्तन नहीं है। मूल्य विपर्यय में हम अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं को, जो कि वास्तव में मूल्य है ही नहीं, मूल्य मान लेते हैं -- जैसे स्वच्छन्द यौनाचार को नैतिक मान लेना। दूसरे यदि "काम" की मूल्यवत्ता के नाम पर कामुकता तथा रोटी की मूल्यवत्ता के नाम पर स्वाद-लोलुपता या पेटूण का समर्थन किया जावे, तो यह मूल्य परिवर्तन नहीं होगा, मूल्य विपर्यय या मूल्याभास ही होगा, क्योंकि "काम" या "रोटी" मूल्य हो सकते हैं किन्तु "कामुकता" या "स्वादलोलुपता" किसी भी स्थिति में नैतिक मूल्य नहीं हो सकते हैं। इसी सन्दर्भ में हमें एक तीसरे प्रकार का मूल्य परिवर्तन परिलक्षित होता है जिसमें मूल्य-विश्व के ही कुछ मूल्य अपनी आनुषंगिकता के कारण नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं और कभी-कभी तो नैतिक जगत् के प्रमुख मूल्य या

नियामक मूल्य बन जाते हैं। अर्थ और काम ऐसे ही मूल्य हैं जो स्वरूपतः नैतिक मूल्य नहीं हैं फिर भी नैतिक मूल्यों के वर्ग में सम्मिलित होकर उनका नियमन और क्रम निर्धारण भी करते हैं। यह सम्भव है कि जो एक परिस्थिति में प्रधान मूल्य हो, वह दूसरी परिस्थिति में प्रधान मूल्य न हो, किन्तु इससे उनकी मूल्यवत्ता समाप्त नहीं होती है। परिस्थितिजन्य मूल्य या सापेक्ष मूल्य दूसरे मूल्यों के निषेधक नहीं होते हैं। दो परस्पर विरोधी मूल्य भी अपनी-अपनी परिस्थिति में अपनी मूल्यवत्ता को बनाए रख सकते हैं। एक दृष्टि से जो मूल्य लगता है वह दूसरी दृष्टि से निर्मूल्य हो सकता है, किन्तु अपनी दृष्टि या अपेक्षा से तो वह मूल्यवान बना रहता है। यह बात पारिस्थितिक मूल्यों के सम्बन्ध में ही अधिक सत्य लगती है।

जैन नैतिकता का अपरिवर्तनशील या निरपेक्ष पक्ष

हमने जैनदर्शन में नैतिकता के सापेक्ष पक्ष पर विचार किया लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जैन-दर्शन में नैतिकता का केवल सापेक्ष पक्ष ही स्वीकार किया गया है। जैन विचारक कहते हैं कि नैतिकता का एक-दूसरा पहलू भी है जिसे हम निरपेक्ष कह सकते हैं। जैन तीर्थंकरों का उद्घोष था कि "धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।" यदि नैतिकता में कोई निरपेक्ष एवं शाश्वत तत्त्व नहीं है तो फिर धर्म की नित्यता और शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जैन नैतिकता यह स्वीकार करती है कि भूत, वर्तमान, भविष्य के सभी धर्म-प्रवर्तकों (तीर्थंकरों) की धर्म प्रज्ञाप्ति एक ही होती है लेकिन इसके साथ-साथ वह यह भी स्वीकार करती है सभी तीर्थंकरों की धर्म प्रज्ञाप्ति एक होने पर भी तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में ऊपर से विभिन्नता मालूम हो सकती है, जैसी महावीर और पार्श्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में थी। जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिक आचरण के आन्तर और बाह्य ऐसे दो पक्ष होते हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य और भाव कहा जाता है। जैन विचारणा के अनुसार आचरण का वह बाह्य पक्ष देश एवं कालगत परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनशील होता है, सापेक्ष होता है। जबकि आचरण का आन्तरपक्ष सदैव-सदैव एकरूप होता है, अपरिवर्तनशील होता है, दूसरे शब्दों में निरपेक्ष होता है। वैचारिक हिंसा या भाव-हिंसा सदैव-सदैव अनैतिक होती है, कभी भी धर्ममार्ग अथवा नैतिक जीवन का नियम नहीं कहला सकती, लेकिन द्रव्यहिंसा या बाह्यरूप में परिलक्षित होने वाली हिंसा सदैव ही अनैतिक अथवा अनाचरणीय ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। आन्तर परिग्रह अर्थात् तृष्णा या आसक्ति सदैव ही अनैतिक है लेकिन द्रव्य परिग्रह सदैव ही अनैतिक नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में जैन विचारणा के अनुसार आचरण के बाह्य रूपों में नैतिकता सापेक्ष ही हो सकती है और होती है लेकिन आचरण के आन्तर रूपों या भावों या संकल्पों के रूप में वह सदैव निरपेक्ष ही है। सम्भव है कि बाह्य रूप में अशुभ दिखने वाला कोई कर्म अपने अन्तर में निहित किसी सदाशयता के कारण शुभ हो जाय लेकिन अन्तर का अशुभ संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि में नैतिकता अपने हेतु या संकल्प की दृष्टि से निरपेक्ष होती है। लेकिन परिणाम अथवा बाह्य आचरण की दृष्टि से सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में नैतिक संकल्प

निरपेक्ष होता है लेकिन नैतिक कर्म सापेक्ष होता है। इसी कथन को जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवहारनय (व्यवहादृष्टि) से नैतिकता सापेक्ष है या व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है लेकिन निश्चयनय (पारमार्थिक दृष्टि) से नैतिकता निरपेक्ष है या निश्चय नैतिकता निरपेक्ष है। जैन दृष्टि में व्यावहारिक नैतिकता वह है जो कर्म के परिणाम या फल पर दृष्टि रखती है जबकि निश्चय नैतिकता वह है जो कर्त्ता के प्रयोजन या संकल्प पर दृष्टि रखती है। युद्ध का संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता, लेकिन युद्ध का कर्म सदैव ही अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। आत्महत्या का संकल्प सदैव ही अनैतिक होता है, लेकिन आत्महत्या का कर्म सदैव ही अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं है, वरन् कभी-कभी तो वह नैतिक ही हो जाता है, जैसे -- चन्दना की माता के द्वारा की गई आत्महत्या या चेडा महाराज के द्वारा किया गया युद्ध।

जैन नैतिक विचारणा में नैतिकता को निरपेक्ष तो माना गया लेकिन केवल संकल्प के क्षेत्र तक। जैन-दर्शन "मानस कर्म" के क्षेत्र में नैतिकता को विशुद्ध रूप में निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनशील स्वीकार करता है, लेकिन जहाँ कायिक या वाचिक कर्मों के बाह्य, मानस का क्षेत्र आत्मा का अपना क्षेत्र है वहाँ वही सर्वोच्च शासक है अतः वहाँ तो नैतिकता को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन आचरण के क्षेत्र में चेतन तत्त्व एकमात्र शासक नहीं, वहाँ तो अन्य परिस्थितियाँ भी शासन करती हैं, अतः उस क्षेत्र में नैतिकता के प्रत्यय को निरपेक्ष नहीं बनाया जा सकता।

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता एवं अपरिवर्तनशीलता का मूल्यांकन

नैतिक मूल्यों की परिवर्तनशीलता के सम्बन्ध में हमें डीवी का दृष्टिकोण अधिक संगतिपूर्ण जान पड़ता है। वे यह मानते हैं कि वे परिस्थितियाँ, जिनमें नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव ही परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमों, नैतिक कर्तव्यों और नैतिक मूल्यांकनों के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है, किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धान्त इतने परिवर्तनशील हैं कि किसी सामाजिक स्थिति में उनमें कोई नियामक शक्ति ही नहीं होती है। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नहीं। दूसरे शब्दों में, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नहीं। नैतिक मूल्यों का विशेष स्वरूप समय-समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है, जैसे-जैसे सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर और परिस्थिति बदलती रहती है, किन्तु मूल्यों की नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है।

वस्तुतः नैतिक मूल्यों की वास्तविक प्रकृति में परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता के दोनों ही पक्ष उपस्थित हैं। नीति का कौन-सा पक्ष परिवर्तनशील होता है और कौन-सा पक्ष अपरिवर्तनशील होता है, इसे निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है--

1. संकल्प का नैतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होता है और आचरण का नैतिक मूल्य परिवर्तनशील होता है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता, यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नहीं। दूसरे शब्दों में, कर्म का जो मानसिक या बौद्धिक पक्ष है वह निरपेक्ष एवं अपरिवर्तनीय है, किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक एवं आचरणात्मक पक्ष है, वह

सापेक्ष एवं परिवर्तनशील है। दूसरे शब्दों में, नीति की आत्मा अपरिवर्तनशील है और नीति का शरीर परिवर्तनशील है। संकल्प का क्षेत्र प्रजा का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ चेतना ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् में व्यक्ति स्वयं अपना शासक है, वहाँ परिस्थितियों या समाज का शासन नहीं है, अतः इस क्षेत्र में नैतिक मूल्यों की निरपेक्षता एवं अपरिवर्तनशीलता सम्भव है। निष्काम कर्म-योग का दर्शन इसी सिद्धान्त पर स्थित है, क्योंकि अनेक स्थितियों में कर्म का बाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावों का यथार्थ परिचायक नहीं होता। अतः यह माना जा सकता है कि वे मूल्य जो मनोवृत्त्यात्मक या भावनात्मक नीति से सम्बन्धित हैं, अपरिवर्तनीय हैं किन्तु वे मूल्य जो आचरणात्मक या व्यवहारात्मक हैं, परिवर्तनीय हैं।

2. दूसरे, नैतिक साध्य या नैतिक आदर्श अपरिवर्तनशील होता है किन्तु उस साध्य के साधन परिवर्तनशील होते हैं। जो सर्वोच्च शुभ है वह अपरिवर्तनीय है, किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे विविध एवं परिवर्तनीय हैं, क्योंकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि सर्वोच्च शुभ को छोड़कर कुछ अन्य साध्य कभी साधन भी बन जाते हैं। साध्य साधन का वर्गीकरण निरपेक्ष नहीं है, उनमें परिवर्तन सम्भव है। यद्यपि जब तक कोई मूल्य साध्य स्थान पर बना रहता है, तब तक उसकी मूल्यवत्ता अपरिवर्तनीय रहती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि किसी स्थिति में जो साध्य-मूल्य है, वह कभी साधन-मूल्य नहीं बनेगा। मूल्य-विश्व के अनेक मूल्य ऐसे हैं जो कभी साधन-मूल्य होते हैं और कभी साध्य-मूल्य। अतः उनकी मूल्यवत्ता अपने स्थान परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो सकती है। पुनः वैयक्तिक रुचियों, क्षमताओं और स्थितियों की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः साधन-मूल्यों को परिवर्तनीय मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है।

3. तीसरे, नैतिक नियमों में कुछ नियम मौलिक होते हैं। साधारणतया सामान्य या मूल-भूत नियम ही अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो परिवर्तनीय होते हैं। यद्यपि हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि अनेक परिस्थितियों में सामान्य नियमों के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी इतना तो ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी भी नियम का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमों एवं साध्य-मूल्यों की अपरिवर्तनशीलता भी एकान्तिक नहीं है। वस्तुतः जैन-दर्शन में नैतिक मूल्यों या सदाचार के मानदण्डों के सन्दर्भ में एकान्तरूप से अपरिवर्तनशीलता और एकान्त रूप से परिवर्तनशीलता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि नैतिक मूल्य या सदाचार के मानदण्ड एकान्त रूप से अपरिवर्तनशील होंगे तो सामाजिक सन्दर्भों के अनुरूप नहीं रह सकेंगे। सदाचार के मानदण्ड इतने निलोच तो नहीं हैं कि वे परिवर्तनशील सामाजिक परिस्थितियों के साथ समायोजन नहीं कर सकें, किन्तु वे इतने लचीले भी नहीं हैं कि हर कोई उन्हें अपने अनुरूप ढाल कर उनके स्वरूप को ही विकृत कर दे। सारांश यह है कि सदाचार के मानदण्ड अन्तरंग रूप से स्थायी हैं और बाह्य रूप में परिवर्तनशील हैं।



जैन धर्म का लेश्या-सिद्धान्त : एक विमर्श

प्रो० सागरमल जैन

व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी मनोवृत्तियों अथवा आवेगों पर निर्भर करता है। व्यक्ति जितना आवेगों से ऊपर उठेगा, उसके व्यक्तित्व में उतनी स्थिरता एवं परिपक्वता आती जायेगी। जिस व्यक्ति में आवेगों (कषायों) की जितनी अधिकता एवं तीव्रता होगी, उसका व्यक्तित्व उतना ही निम्नस्तरीय एवं अशान्त होगा। आवेगों (मनोवृत्तियों) की तीव्रता और उनकी शुभाशुभता दोनों ही हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। वस्तुतः आवेगों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, व्यक्तित्व में उतनी ही अस्थिरता होगी और व्यक्तित्व में जितनी अधिक अस्थिरता होगी उतनी ही चारित्रिक दृढ़ता में कमी होगी। आवेगात्मक अस्थिरता ही अनैतिकता की जननी है। इस प्रकार आवेगात्मकता, चरित्र-बल और व्यक्तित्व तीनों ही एक दूसरे से जुड़े हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति के मूल्यांकन के सन्दर्भ में न केवल आवेगों की तीव्रता पर विचार करना चाहिए, वरन् उनकी प्रशस्तता और अप्रशस्तता पर भी विचार करना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से जोड़ा जाता रहा है। व्यक्तित्व के वर्गीकरण या श्रेणी विभाजन के शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक अनेक आधारों में एक आधार व्यक्ति की प्रशस्त और अप्रशस्त मनोवृत्तियाँ भी रही हैं। जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की मनोवृत्तियाँ होती हैं, उसी आधार पर उसके व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया जाता है। मनोवृत्तियों की शुभाशुभता एवं तीव्रता और मन्दता के आधार पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा बहुत पुरानी है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा के ग्रन्थों में ऐसा वर्गीकरण या श्रेणी विभाजन उपलब्ध है। जैन परम्परा में इस वर्गीकरण का आधार उसका लेश्या सिद्धान्त है। यद्यपि जैन परम्परा में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर व्यक्तित्व के वर्गीकरण के अन्य सिद्धान्त यथा -- बहिरात्मा, अन्तरात्मा का सिद्धान्त एवं गुणस्थान के सिद्धान्त भी प्रचलित हैं, किन्तु इन सबमें लेश्या सिद्धान्त ही सबसे प्राचीन है, क्योंकि त्रिविध आत्मा की अवधारणा और गुणस्थान-सिद्धान्त दोनों ही ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व उपलब्ध नहीं होते हैं। जबकि लेश्या सिद्धान्त भगवती और उत्तराध्ययन जैसे ईस्वी पूर्व के आगमों में भी उपलब्ध है। अन्य श्रमण परम्पराओं में लेश्या सिद्धान्त का स्थान अभिजाति की कल्पना ने लिया है। गीता में इसे दैवी एवं आसुरी सम्पदा के रूप में वर्णित किया गया है।

लेश्या-सिद्धान्त और नैतिक व्यक्तित्व

जैन-विचारकों के अनुसार लेश्या की परिभाषा यह है कि जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है या जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है अर्थात् बन्धन में आती है, वह

लेश्या है।¹ उत्तराध्ययन की बृहद्-वृत्ति में लेश्या का अर्थ आण्विक आभा, कान्ति, प्रभा या छाया किया गया है।² यापनीय आचार्य शिवार्य ने भगवती-आराधना में छाया पुद्गल से प्रभावित जीव के परिणामों (मनोभावों) को लेश्या माना है।³ इसी आधार पर देवेन्द्रमुनिशास्त्री ने लेश्या को एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण माना है, जो मनोवृत्तियों को निर्धारित करता है।⁴ डॉ० शान्ता जैन ने भी अपने शोध-निबन्ध में भगवती सूत्र (1/9) की टीका के आधार पर लेश्या को औदारिक आदि शरीरों का वर्ण माना है। वे लिखती हैं कि लेश्या एक पौद्गलिक परिणाम है।⁵

जैनागमों में लेश्या दो प्रकार की मानी गयी है -- 1. द्रव्य लेश्या और 2. भाव लेश्या। अतः हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें मात्र द्रव्य लेश्या ही पौद्गलिक है, भाव लेश्या नहीं। भाव लेश्या तो द्रव्य लेश्या के आधार पर बनने वाली चित्तवृत्तियाँ हैं। इन दोनों में कार्यकारण भाव या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है किन्तु दोनों अलग-अलग हैं।

1. द्रव्य लेश्या - द्रव्य लेश्या सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से निर्मित वह संरचना है, जो हमारे मनोभावों एवं तज्जनित कर्मों का सापेक्ष रूप में कारण अथवा कार्य बनती है। जिस प्रकार पित्त द्रव्य की विशेषता से स्वभाव में क्रुद्धता आती है और क्रोध के कारण पित्त का निर्माण बहुल रूप से होता है, उसी प्रकार इन सूक्ष्म भौतिक तत्त्वों से मनोभाव बनते हैं और मनोभाव के होने पर इन सूक्ष्म संरचनाओं का निर्माण होता है। लेश्या-द्रव्य या द्रव्य-लेश्या-स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य राजेन्द्रसूरिजी⁶ एवं पं० सुखलालजी⁷ ने निम्न तीन मतों को उद्धृत किया है :

(i) लेश्या -- द्रव्य कर्म-वर्मणा से बने हुए हैं। यह मत उत्तराध्ययन की टीका में है।

(ii) लेश्या -- द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाह रूप में है। यह मत भी उत्तराध्ययन की टीका में वादिवैताल शान्तिसूरि का है।

(iii) लेश्या -- योग परिणाम है अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। यह मत आचार्य हरिभद्र का है।

मेरी दृष्टि से द्रव्य लेश्या को हम व्यक्ति का आभा मण्डल कह सकते हैं। डॉ० शान्ती जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में और उनसे पूर्व युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अपने ग्रन्थ आभामण्डल में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

2. भाव लेश्या -- भाव लेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। पं० सुखलाल जी के शब्दों में भाव-लेश्या मनोभाव विशेष है, जो संक्लेश और योग से अनुगत है।

संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होने से लेश्या (मनोभाव) वस्तुतः अनेक प्रकार की है तथापि संक्षेप में छः भेद करके (जैन) शास्त्र में उसका स्वरूप वर्णन किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र⁸ में लेश्याओं के स्वरूप का निर्वचन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनोभाव, कर्म आदि अनेक पक्षों के आधार पर हुआ है, लेकिन हम अपने विवेचन को लेश्याओं के भावात्मक पक्ष तक सीमित रखना उचित समझेंगे। मनोदशाओं में संक्लेश की न्यूनाधिकता अथवा मनोभावों की अशुभत्व से शुभत्व की ओर बढ़ने की स्थितियों के आधार पर ही उनके विभाग किये गये हैं। अप्रशस्त और प्रशस्त इन द्विविध मनोभावों के उनकी तरतमता के आधार पर छः भेद वर्णित हैं -

 अप्रशस्त मनोभाव

प्रशस्त मनोभाव

- 1. कृष्ण लेश्या - तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव
 2. नील लेश्या - तीव्र अप्रशस्त मनोभाव
 3. कापोत लेश्या - मंद अप्रशस्त मनोभाव

4. तेजोलेश्या - मंद प्रशस्त मनोभाव
 5. पद्मलेश्या - तीव्र प्रशस्त मनोभाव
 6. शुक्ललेश्या - तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव
-

लेश्याएं एवं व्यक्तित्व का श्रेणी-विभाजन

लेश्याएं मनोभावों का वर्गीकरण मात्र नहीं है, वरन् चरित्र के आधार पर किये गये व्यक्तित्व के प्रकार भी हैं। मनोभाव अथवा संकल्प आन्तरिक तथ्य ही नहीं हैं, वरन् वे क्रियाओं के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति भी चाहते हैं। वस्तुतः संकल्प ही कर्म में रूपान्तरित होते हैं। ब्रेडले का यह कथन उचित है कि कर्म संकल्प का रूपान्तरण है।⁹ मनोभूमि या संकल्प व्यक्ति के आचरण का प्रेरक सूत्र है, लेकिन कर्म- क्षेत्र में संकल्प और आचरण दो अलग-अलग तत्त्व नहीं रहते हैं। आचरण से संकल्पों की मनोभूमिका का निर्माण होता है और संकल्पों की मनोभूमिका पर ही आचरण स्थित होता है। मनोभूमि और आचरण (चरित्र) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतना ही नहीं, मनोवृत्ति स्वयं में भी एक आचरण है। मानसिक कर्म भी कर्म ही है। अतः जैन विचारकों ने जब लेश्या परिणाम की चर्चा की तो वे मात्र मनोदशाओं की चर्चाओं तक ही सीमित नहीं रहे, वरन् उन्होंने उस मनोदशा से प्रत्युत्पन्न जीवन के कर्म क्षेत्र में घटित होने वाले बाह्य व्यवहारों की चर्चा भी की और इस प्रकार जैन लेश्या सिद्धान्त व्यक्तित्व के वर्गीकरण का व्यवहारिक सिद्धान्त बन गया। जैन विचारकों ने इस सिद्धान्त के आधार पर यह बताया कि मनोवृत्ति एवं आचरण की दृष्टि से व्यक्ति का व्यक्तित्व या तो शुभ (नैतिक) होगा या अशुभ (अनैतिक)। इन्हें धार्मिक और अधार्मिक अथवा शुक्ल-पक्षी और कृष्ण-पक्षी भी कहा गया है। वस्तुतः एक वर्ग वह है जो नैतिकता या शुभत्व की ओर उन्मुख है। दूसरा वर्ग वह है जो अनैतिकता या अशुभत्व की ओर उन्मुख है। इस प्रकार गुणात्मक अन्तर के आधार पर व्यक्तित्व के ये दो प्रकार बनते हैं। लेकिन जैन विचारक मात्र गुणात्मक वर्गीकरण से सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने उन दो गुणात्मक प्रकारों को तीन-तीन प्रकार के मात्रात्मक अन्तरों (जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट) के आधार पर छः भागों में विभाजित किया। जैन लेश्या सिद्धान्त का षट्-विध वर्गीकरण इसी आधार पर हुआ है। जैन विचारकों ने इन

मात्रात्मक अन्तरों के तीन, नव, इक्यासी और दो सौ तैतालिस उपभेद भी गिनाये हैं, लेकिन प्राचीन षट्-विध वर्गीकरण ही अधिक प्रचलित रहा है। निम्न पंक्तियों में हम इन छः प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा करेंगे --

1. कृष्ण लेश्या (अशुभ भाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह व्यक्तित्व का सबसे निकृष्ट रूप है। इस अवस्था में प्राणी के विचार अत्यन्त निम्न कोटि के एवं क्रूर होते हैं। वासनात्मक पक्ष जीवन के सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र पर हावी रहता है। प्राणी अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करने में अक्षम रहता है। वह अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रख पाने के कारण बिना किसी प्रकार के शुभाशुभ विचार के सदैव इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति में निमग्न रहता है। इस प्रकार भोग-विलास में आसक्त हो, वह उनकी पूर्ति के लिए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और संग्रह में लगा रहता है। स्वभाव से वह निर्दय व नृशंस होता है और हिंसक कार्य करने में उसे तनिक भी अरुचि नहीं होती तथा अपने छोटे से स्वार्थ के निमित्त दूसरे का बड़ा से बड़ा अहित करने में वह संकोच नहीं करता।¹⁰ मात्र यही नहीं वह दूसरों को निरर्थक पीड़ा या त्रास देने में आनन्द मानता है। कृष्ण लेश्या से युक्त प्राणी वासनाओं के अन्ध प्रवाह से ही शासित होता है इसलिए भावावेश में उसमें स्वयं के हिताहित का विचार करने की क्षमता भी नहीं होती। वह दूसरे का अहित मात्र इसलिए नहीं करता कि उससे उसका स्वयं का कोई हित होगा, वरन् वह तो अपने क्रूर स्वभाव के वशीभूत हो, अपने हित के अभाव में भी दूसरे का अहित करता रहता है।

2. नील लेश्या (अशुभतर मनोभाव) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- व्यक्तित्व का यह प्रकार पहले की अपेक्षा कुछ ठीक होता है, लेकिन होता अशुभ ही है। इस अवस्था में भी प्राणी का व्यवहार वासनात्मक पक्ष से शासित होता है। लेकिन वह अपनी वासनाओं की पूर्ति में अपनी बुद्धि का प्रयोग करने लगता है। अतः इसका व्यवहार प्रकट रूप में तो कुछ परिमार्जित सा रहता है, लेकिन उसके पीछे कुटिलता ही काम करती है। यह विरोधी का अहित अप्रत्यक्ष रूप से करता है। ऐसा प्राणी ईर्ष्यालु, असहिष्णु, असंयमी, अज्ञानी, कपटी, निर्लज्ज, लम्पट, द्वेष बुद्धि से युक्त, रसलोलुप एवं प्रमादी होता है।¹¹ वह अपनी सुख-सुविधा का सदैव ध्यान रखता है और दूसरे का अहित अपने हित के निमित्त करता है, यद्यपि वह अपने अल्प हित के लिए दूसरे का बड़ा अहित भी कर देता है। जिन प्राणियों से उसका स्वार्थ सघ्नता है उन प्राणियों का अज-पोषण-न्याय के अनुसार वह कुछ ध्यान अवश्य रखता है, लेकिन मनोवृत्ति दूषित ही होती है। जैसे बकरा पालने वाला बकरे को इसलिए नहीं खिलाता कि उस बकरे का हित होगा वरन् इसलिए खिलाता है कि उसे मारने पर अधिक मांस मिलेगा। ऐसा व्यक्ति दूसरे का बाह्य रूप में जो भी हित करता दिखाई देता है, उसके पीछे उसका गहन स्वार्थ रहता है।

3. कापोत लेश्या (अशुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह मनोवृत्ति भी दूषित है। इन मनोवृत्ति में प्राणी का व्यवहार मन, वचन, कर्म से एकरूप नहीं होता। उसकी करनी और कथनी भिन्न होती है। मनोभावों में सरलता नहीं होती, कपट और

अहंकार होता है। वह अपने दोषों को सदैव छिपाने की कोशिश करता है। उसका दृष्टिकोण अयथार्थ एवं व्यवहार अनार्य होता है। वह वचन से दूसरे की गुप्त बातों को प्रकट करने वाला अथवा दूसरे के रहस्यों को प्रकट करके उससे अपना हित साधने वाला, दूसरे के धन का अपहरण करने वाला एवं मात्सर्य भावों से युक्त होता है। फिर भी ऐसा व्यक्ति दूसरे का अहित तभी करता है, जब उससे उसकी स्वार्थ सिद्धि होती है।¹²

4. तेजो लेश्या (शुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह मनोदशा पवित्र होती है। इस मनोभूमि में प्राणी पापभीरु होता है। यद्यपि वह अनैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त नहीं होता, तथापि वह सुखापेक्षी होता है। लेकिन किसी अनैतिक आचरण द्वारा उन सुखों की प्राप्ति या अपना स्वार्थ साधन नहीं करता। धार्मिक और नैतिक आचरण में उसकी पूर्ण आस्था होती है। अतः उन कृत्यों के सम्पादन में आनन्द प्राप्त करता है, जो धार्मिक या नैतिक दृष्टि से शुभ हैं। इस मनोभूमि में दूसरे के कल्याण की भावना भी होती है। संक्षेप में, इस मनोभूमि में स्थित प्राणी पवित्र आचरण वाला, नम्र, धैर्यवान, निष्कपट, आकांक्षारहित, विनीत, संयमी एवं योगी होता है।¹³ वह प्रिय एवं दृढदर्मी तथा परहितैषी होता है। इस मनोभूमि में दूसरे का अहित तो सम्भव होता है, लेकिन केवल उसी स्थिति में जबकि दूसरा उसके हितों का हनन करने पर उतारू हो जाये।

जैन आगमों में तेजोलेश्या की शक्ति को प्राप्त करने के लिये विशिष्ट साधना-विधि का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गोशालक ने महावीर से तेजोलेश्या की जो साधना सीखी थी उसका दुरुपयोग उसने स्वयं भगवान् महावीर और उनके शिष्यों के प्रति किया। इस प्रकार तेजोलेश्या का उपयोग शुभत्व और अशुभत्व दोनों ही दिशा में सम्भव हो सकता है।

5. पद्म लेश्या (शुभतर मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- इस मनोभूमि में पवित्रता की मात्रा पिछली भूमि की अपेक्षा अधिक होती है। इस मनोभूमि में क्रोध, मान, माया एवं लोभरूप अशुभ मनोवृत्तियाँ अतीव अल्प अर्थात् समाप्तप्राय हो जाती हैं। प्राणी संयमी तथा योगी होता है तथा योग साधना के फलस्वरूप आत्मजयी एवं प्रफुल्लित होता है। वह अल्पभाषी, उपशांत एवं जितेन्द्रिय होता है।¹⁴

6. शुक्ल लेश्या (परमशुभ मनोवृत्ति) से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण -- यह मनोभूमि शुभ मनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। पिछली मनोवृत्ति के सभी शुभ गुण इस अवस्था में वर्तमान रहते हैं, लेकिन उनकी विशुद्धि की मात्रा अधिक होती है। प्राणी उपशांत, जितेन्द्रिय एवं प्रसन्नचित्त होता है। उसके जीवन का व्यवहार इतना मृदु होता है कि वह अपने हित के लिए दूसरे को तनिक भी कष्ट नहीं देना चाहता है। मन-वचन-कर्म से एकरूप होता है तथा उनपर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। उसे मात्र अपने आदर्श का बोध रहता है। बिना किसी अपेक्षा के वह मात्र स्वकर्तव्य के परिपालन के प्रति जागरूक रहता है। सदैव स्वधर्म एवं स्वस्वरूप में निम्न रहता है।

लेश्या सिद्धान्त और अन्य विचारणाएँ

भारत में व्यक्ति के मनोवृत्तियों, गुणों एवं कर्मों के आधार पर वर्गीकरण करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह वर्गीकरण सामाजिक एवं साधनात्मक दोनों दृष्टिकोणों से किया जाता रहा है। सामाजिक दृष्टि से इसने चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का रूप ग्रहण किया था, जिसपर जन्मना आर कर्मणा दृष्टिकोणों को लेकर श्रमण और वैदिक परम्परा में काफी विवाद भी रहा है। साधनात्मक दृष्टिकोण से गुण कर्म के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण करने का प्रयास न केवल जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा ने किया है, वरन् अन्य लुप्त श्रमण परम्पराओं में भी ऐसे वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। दीघनिकाय में आजीवक सम्प्रदाय के आचार्य मंखलिपुत्र गोशालक एवं अंगुत्तरनिकाय में पूर्ण-कश्यप के नाम के साथ ही वर्गीकरण का निर्देश हुआ है। ज्ञातव्य है कि दीघनिकाय में सामंजस्यसुत्त में गोशालक सम्बन्धी विवरण में मात्र "छस्वेववाभिजातीसु" इतना उल्लेख है, जबकि अंगुत्तर निकाय में पूर्णकश्यप के द्वारा प्रस्तुत विवरण में इन छहों अभिजातियों में कौन किस वर्ग में आता है, इसका भी उल्लेख है। किन्तु इसमें आजीवक श्रमणों और आचार्यों को सर्वोच्च वर्गों में रखना यही सूचित करता है कि यह सिद्धान्त मूलतः आजीवकों अर्थात् मंखलिगोशालक की परम्परा का रहा है। अंगुत्तरनिकाय में या तो भ्रान्तिवश अथवा फिर पूर्णकश्यप द्वारा भी मान्य होने के कारण इसे उनके नामों से कहा गया है। इसकी मान्यता के अनुसार कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छः अभिजातियाँ हैं। उक्त वर्गीकरण में कृष्ण अभिजाति में निर्गन्ध और आजीवक श्रमणों के अतिरिक्त अन्य श्रमणों को, लोहित अभिजाति में निर्गन्ध श्रमणों को, हरिद्र अभिजाति में आजीवक गृहस्थों को, शुक्ल अभिजात में आजीवक के प्रणेता आचार्य-वर्ग को रखा गया है। ज्ञातव्य है कि चतुर्थ वर्ग के अर्थ में पूज्य आचार्य देवेन्द्रमुनिजी ने अपने 'पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ' में एवं कुमारी शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में जो श्वेतवस्त्रधारी या निर्वस्त्र का अर्थ लिखा है वह उचित नहीं है उसमें मूलशब्द है -- "ओदात्तवसनी अचेलसावका"। इसका अर्थ है उदात्त वस्त्र वाले अचेलकों (आजीवकों) के श्रावक। इसमें अचेलसावका का अर्थ अचेलकों के श्रावक ऐसा है। ओदात्तवसना यह श्रावकों का विशेषण है।

उपर्युक्त वर्गीकरण का जैन विचारणा के लेश्या सिद्धान्त से बहुत कुछ शब्द साम्य है, लेकिन जैन दृष्टि से यह वर्गीकरण इस अर्थ में भिन्न है कि एक तो यह केवल मानव जाति तक सीमित है, जबकि जैन वर्गीकरण इसमें सम्पूर्ण प्राणी वर्ग का समावेश करता है। दूसरे, जैन दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है, जो साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपनी मनोवृत्तियों एवं कर्मों के आधार पर किसी भी वर्ग या अभिजाति में सम्मिलित हो सकता है। यहाँ यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि जहाँ गोशालक द्वारा दूसरे श्रमणों को नील अभिजाति में रखा गया, वहाँ निर्गन्धों को लोहित अभिजाति में रखना उनके प्रति कुछ समादर भाव का द्योतक अवश्य है। सम्भव है कि महावीर एवं गोशालक का पूर्व सम्बन्ध ही इसका कारण रहा हो। जहाँ तक भगवान बुद्ध की तत्सम्बन्धी मान्यता का का प्रश्न है, वे पूर्णकश्यप अथवा गोशालक की मान्यता से अपने को सहमत नहीं कर पाते हैं। वे व्यक्ति के नैतिक स्तर के आधार पर वर्गीकरण तो प्रस्तुत करते हैं, लेकिन वे अपने वर्गीकरण को जैन

विचारणा के समान ही सार्वभौम एवं वस्तुनिष्ठ ही रखना चाहते हैं। वे यह भी नहीं बताते कि अमुक वर्ग या व्यक्ति इस वर्ग का है, वरन् यही कहते हैं कि जिसकी मनोभूमिका एवं आचरण जिस वर्ग के अनुसार होगा, वह उस वर्ग में आ जायेगा। पूर्णकश्यप के दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए भगवान बुद्ध आनन्द से कहते हैं कि 'मैं अभिजातियों को तो मानता हूँ लेकिन मेरा मन्तव्य दूसरों से पृथक् है'।¹⁶ मनोदशाओं के आधार पर आचरणपरक वर्गीकरण बौद्ध विचारणा का प्रमुख मन्तव्य था।

बौद्ध विचारणा में प्रथमतः प्रशस्त और अप्रशस्त मनोभाव तथा कर्म के आधार पर मानव जाति को कृष्ण और शुक्ल वर्ग में रखा गया। जो क्रूर कर्मों हैं वे कृष्ण अभिजाति के हैं और जो शुभ कर्मों हैं वे शुक्ल अभिजाति के हैं। पुनः कृष्ण प्रकार वाले और शुक्ल प्रकार वाले मनुष्यों को गुण-कर्म के आधार पर तीन-तीन भागों में बाँटा गया है।¹⁷ जैनागम उत्तराध्ययन में भी लेश्याओं को प्रशस्त और अप्रशस्त इन दो भागों में बाँटकर प्रत्येक के तीन-तीन विभाग किये गये हैं। बौद्ध विचारणा ने शुभाशुभ कर्मों एवं मनोभावों के आधार पर छः वर्ग तो मान लिये, लेकिन इसके अतिरिक्त उन्होंने एक वर्ग उन लोगों का भी माना जो शुभाशुभ से ऊपर उठ गये हैं और इसे अकृष्ण शुक्ल कहा। जैसे जैन दर्शन में अर्हत् को अलेशी कहा गया है। इस प्रकार बुद्ध ने निम्न छः अभिजातियाँ प्रतिपादित की हैं --

- (1) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में पैदा हुआ) हो और कृष्ण धर्म (पापकृत्य) करता है।
- (2) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो और शुक्ल धर्म करता है।
- (3) कोई व्यक्ति कृष्णाभिजातिक हो अकृष्ण- अशुक्ल निर्वाण को समुत्पन्न करता है।
- (4) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक (उच्चकुल में समुत्पन्न हुआ) हो तथा शुक्ल धर्म (पुण्य) करता है।
- (5) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो और कृष्णकर्म करता है।
- (6) कोई व्यक्ति शुक्लाभिजातिक हो अशुक्ल-अकृष्ण निर्वाण को समुत्पन्न करता है।

इस वर्गीकरण में भगवान बुद्ध ने जन्म और कर्म दोनों को ही अपना आधार बनाया है जबकि जैन परम्परा मनोभावों और कर्मों को ही महत्त्व देती है, जन्म को नहीं। फिर भी उसमें देव एवं नारक के सम्बन्ध में जो लेश्या की चर्चा है उससे ऐसा लगता है कि वह वर्ग विशेष में जन्म के साथ लेश्या विशेष की उपस्थिति मानते थे।

लेश्या-सिद्धान्त और गीता

गीता में भी प्राणियों के गुण-कर्म के अनुसार व्यक्तित्व के वर्गीकरण की धारणा मिलती है। गीता न केवल सामाजिक दृष्टि से प्राणियों को गुण-कर्म के अनुसार चार वर्गों में वर्गीकृत करती है, वरन् वह आचरण की दृष्टि से भी एक अलग वर्गीकरण प्रस्तुत करती है।

गीता के 16वें अध्याय में प्राणियों की आसुरी एवं दैवी ऐसी दो प्रकार की प्रकृति बतलायी गई है और इसी आधार पर प्राणियों के दो विभाग किये गये हैं। गीता का कथन है कि प्राणियों या मनुष्यों की प्रकृति दो ही प्रकार की होती है या तो दैवी या आसुरी।¹⁸ उसमें भी दैवी गुण मोक्ष के हेतु हैं और आसुरी गुण बन्धन के हेतु हैं।¹⁹ गीता में हमें द्विविध वर्गीकरण ही मिलता है, जिन्हें हम चाहे दैवी और आसुरी प्रकृति कहें, चाहे कृष्ण और शुक्लपक्षी कहें या कृष्ण और शुक्ल अभिजाति कहें। षट् लेश्याओं की जैन विचारणा के विवेचन में भी दो ही मूल प्रकार हैं। प्रथम तीन कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को अविशुद्ध, अप्रशस्त और संक्लिष्ट कहा गया है और अन्तिम तीन तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या को विशुद्ध प्रशस्त और असंक्लिष्ट कहा गया है।²⁰ उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण, नील एवं कापोत अधर्म लेश्यायें हैं और इनके कारण जीवन दुर्गति में जाता है और तेजो, पद्म एवं शुक्ल धर्मलेश्यायें हैं और इनके कारण जीव संगति में जाता है।²¹ पं० सुखलाल जी लिखते हैं कि कृष्ण और शुक्ल के बीच की लेश्यायें, विचारगत अशुभता के विविध मिश्रण मात्र हैं।²² जैन दृष्टि के अनुसार धर्म लेश्यायें या प्रशस्त लेश्यायें मोक्ष का हेतु तो होती हैं एवं जीवनमुक्त अवस्था तक विद्यमान भी रहती हैं, लेकिन विदेह मुक्ति उसी अवस्था में होती है जब प्राणी इनसे भी ऊपर उठ जाता है। इसलिए यहाँ यह कहा गया है कि धर्म लेश्यायें सुगति का कारण हैं, निर्वाण का कारण नहीं हैं। निर्वाण का कारण तो लेश्याओं से अतीत होना है।

जैन विचारणा विवेचना के क्षेत्र में विश्लेषणात्मक अधिक रही है। अतएव वर्गीकरण करने की स्थिति में भी उसने काफी गहराई तक जाने की कोशिश की और इसी आधार पर यह षट्-विध विवेचन किया। लेकिन तथ्य यह है कि गुणात्मक अन्तर के आधार पर तो दो ही भेद होते हैं, शेष वर्गीकरण मात्रात्मक ही हैं और इस प्रकार यदि मूल आधारों की ओर दृष्टि रखें तो जैन और गीता की विचारणा को अतिनिकट ही पाते हैं। जहाँ तक जैन दर्शन की धर्म और अधर्म लेश्याओं में और गीता की दैवी और आसुरी सम्पदा में प्राणी की मनःस्थिति एवं आचरण का जो चित्रण किया गया है, उसमें बहुत कुछ शब्द एवं भाव साम्य है।

धर्म लेश्याओं में प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र (उत्तराध्ययन²³ के आधार पर जैन दृष्टिकोण)

दैवी सम्पदा से युक्त प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र (गीता²⁴ का दृष्टिकोण)

1. प्रशान्त चित्त
2. ज्ञान, ध्यान और तप में रत
3. इन्द्रियों को वश में रखने वाला
4. स्वाध्यायी
5. हितैषी
6. क्रोध की न्यूनता
7. मान, माया और लोभ का त्यागी

- शान्तचित्त एवं स्वच्छ अन्तःकरण वाला तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान में निरन्तर दृढ़ स्थिति इन्द्रियों का दमन करने वाला स्वाध्यायी, दानी एवं उत्तम कर्म करने वाला अहिंसायुक्त, दयाशील तथा अभय अक्रोधी, क्षमाशील त्यागी

8. अल्पभाषी	अपिशुनी तथा सत्यशील
9. इन्द्रिय और मन पर अधिकार करने वाला	अलोलुप (इन्द्रिय विषयों में अनासक्त)
10. तेजस्वी	तेजस्वी
11. दृढधर्मी	धैर्यवान
12. नम्र एवं विनीत	कोमल
13. चपलता रहित तथा शांत	चपलतारहित (अचपल)
14. पापभीरु शान्त	लोक और शास्त्रविरुद्ध आचरण में लज्जा

अप्रशस्त या अधर्म लेश्याओं में प्राणियों की मनःस्थिति एवं चरित्र (उत्तराध्ययन²⁵ के आधार पर जैन दृष्टिकोण)

आसुरी सम्पदा से युक्त प्राणी की मनःस्थिति एवं चरित्र (गीता के आधार पर)²⁶ गीता का दृष्टिकोण

1. अज्ञानी	कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान का अभाव
2.	नष्टात्मा एवं चिन्ताग्रस्त
3. मन, वचन एवं कर्म से अगुप्त	मानसिक एवं कायिक शौच से रहित (अपवित्र)
4. दुराचारी	अशुद्ध आचार (दुराचारी)
5. कपटी	कपटी, मिथ्याभाषी
6. मिथ्यादृष्टि	आत्मा और जगत् के विषय में मिथ्या दृष्टिकोण
7. अविचारपूर्वक कर्म करने वाला	अल्पबुद्धि
8. नृशंस	क्रूरकर्मी
9. हिंसक	हिंसक, जगत् का नाश करने वाला
10. रसलोलुप एवं विषयी	कामभोग परायण तथा क्रोधी
11. अविरत	तृष्णायुक्त
12. चोर	चोर

महाभारत और लेश्या सिद्धान्त

गीता महाभारत का अंग है और महाभारत में सनत्कुमार एवं वृत्रासुर के संवाद में प्राणियों के छः प्रकार के वर्णों का निर्देश हुआ है। वे वर्ण हैं : कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र और शुक्ल। इन छः वर्णों की सुखात्मक स्थिति का चित्रण करते हुए कहा गया है कि कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है, रक्त वर्ण का सुख सह्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर होता है और शुक्ल वर्ण सर्वाधिक सुखकर होता है।

ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में भी षट्लेश्याओं की सुखदुःखात्मक स्थितियों की चर्चा उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों

के चार रंगों (वर्णों) का भी उल्लेख मिलता है। इसमें शूद्र को कृष्ण, वैश्य को नील, क्षत्रिय को रक्त, और ब्राह्मण को शुक्ल वर्ण कहा गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य जटासिंह नन्दी ने वरांगचरित (7वीं शती) में इस अवधारणा की स्पष्ट समीक्षा भी की थी। उन्होंने कहा था कि न तो सभी शूद्र काले होते हैं और न सभी ब्राह्मण शुक्ल वर्ण के होते हैं।

साथ ही महाभारत में वर्णों के आधार पर जीवों की उच्च एवं निम्न गतियों का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही सभी वर्णों की चर्चा करते हुए भी बताया गया है कि नारकीय जीवों का वर्ण कृष्ण होता है, जो नरक से निकलते हैं उनका वर्ण धूम्र होता है। मानव जाति का वर्ण नीला होता है। देवों का रक्त वर्ण होता है। अनुग्रहशील विशिष्ट देवों का वर्ण हारिद्र और साधकों का वर्ण शुक्ल होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्णों (रंगों) के आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया गया है।

योग-सूत्र एवं लेश्या-सिद्धान्त

इसी प्रकार पतंजलि ने अपने योगसूत्र में चार जातियाँ प्रतिपादित की हैं : 1. कृष्ण, 2. कृष्ण-शुक्ल, 3. शुक्ल और 4. अशुक्ल-अकृष्ण। इन्हें क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर कहा गया है।

उपरोक्त आधारों पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में कृष्ण और शुक्ल इन दो वर्णों की कल्पना को मनोवृत्ति, आचरण, गति आदि से जोड़ा गया। जैन दर्शन में इन्हें कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी कहा गया और कृष्णपक्षी को मिथ्या दृष्टि और शुक्ल पक्षी को सम्यक् दृष्टि माना गया। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में कृष्णधर्म और शुक्लधर्म का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पण्डित कृष्ण धर्म का परित्याग कर शुक्ल धर्म का अनुसरण करे। आगे चलकर अकृष्ण अशुक्ल रूप निर्वाण कल्पना के साथ तीन वर्ग बनाये गये। फिर जन्म के आधार पर कृष्ण-अभिजाति और शुक्ल-अभिजाति की कल्पना का कर्म की दृष्टि से उक्त तीन अवस्थाओं से संयोग करके बौद्ध धर्म में भी छः वर्ग बने हैं, जिनकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इस प्रकार कृष्ण और शुक्ल दोनों के संयोग से कृष्ण-शुक्ल नामक तीसरे और दोनों का अतिक्रमण करने से चौथे वर्ग की कल्पना की गयी और इस प्रकार एक चतुर्विध वर्गीकरण भी हुआ। पतंजलि और बौद्ध दर्शन में यह चतुर्विध वर्गीकरण भी मिलता है। कृष्ण और शुक्ल वर्ण के मध्यवर्ती अन्य वर्णों की कल्पना के साथ आजीवक आदि कुछ प्राचीन भ्रमण धाराओं में षट् अभिजातियों की और जैनधारा में लेश्याओं की अवधारणा सामने आयी है।

लेश्या सिद्धान्त एवं पाश्चात्य नीतिवेत्ता रास के नैतिक व्यक्तित्व का वर्गीकरण

पाश्चात्य नीतिशास्त्र में डब्ल्यू० रास भी एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं जिसकी तुलना जैन लेश्या सिद्धान्त से की जा सकती है। रास कहते हैं कि नैतिक शुभ एक ऐसा शुभ है जो हमारे कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से सम्बन्धित है। नैतिक शुभता का मूल्य केवल इसी बात में नहीं है कि उसका प्रेरक क्या है, वरन् उसकी अनैतिकता के प्रति अवरोधक शक्ति से भी है। उनके अनुसार नैतिक शुभत्व के सन्दर्भ में मनोभावों का उनके

निम्नतम रूप से उच्चतम रूप तक एक निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है--

1. दूसरों को जितना अधिक दुःख दिया जा सकता है, देने की इच्छा ।
2. दूसरों को किसी विशेष प्रकार का अस्थायी दुःख उत्पन्न करने की इच्छा ।
3. नैतिक दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करने की इच्छा ।
4. ऐसा सुख प्राप्त करने की इच्छा जो नैतिक दृष्टि से उचित न हो, लेकिन अनुचित भी न हो ।
5. नैतिक दृष्टि से उचित सुख प्राप्त करने की इच्छा ।
6. दूसरों को सुख देने की इच्छा ।
7. कोई शुभ कार्य करने की इच्छा ।
8. अपने नैतिक कर्तव्य के परिपालन की इच्छा ।²⁷

रास अपने इस वर्गीकरण में जैन लेश्या सिद्धान्त के काफी निकट आ जाते हैं। जैन विचारक और रास दोनों स्वीकार करते हैं कि नैतिक शुभ का समन्वय हमारे कार्यों, इच्छाओं, संवेगों तथा चरित्र से है। यही नहीं दोनों व्यक्ति के नैतिक विकास का मूल्यांकन इस बात से करते हैं कि व्यक्ति के मनोभावों एवं आचरण में कितना परिवर्तन हुआ है और वह विकास की किस भूमिका में स्थित है। रास के वर्गीकरण के पहले स्तर की तुलना कृष्ण लेश्या की मनोभूमि से की जा सकती है, दोनों ही दृष्टिकोणों के अनुसार इस स्तर में प्राणी की मनोवृत्ति दूसरों को यथासम्भव दुःख देने की होती है। जैन विचारणा का जामुन के वृक्ष वाला उदाहरण भी यही बताता है कि कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति उस जामुन के वृक्ष के मूल को प्राप्त करने की इच्छा रखता है अर्थात् जितना विनाश किया जा सकता है या जितना दुःख दिया जा सकता है, उसे देने की इच्छा रखता है। दूसरे स्तर की तुलना नील लेश्या से की जा सकती है। रास के अनुसार व्यक्ति इस स्तर में दूसरों को अस्थायी दुःख देने की इच्छा रखता है, जैनदृष्टि के अनुसार भी इस अवस्था में प्राणी दूसरों को दुःख उसी स्थिति में देना चाहता है, जब उनके दुःख देने से उसका स्वार्थ सधता है। इस प्रकार इस स्तर पर प्राणी दूसरों को तभी दुःख देता है जब उसका स्वार्थ उनसे टकराता हो। यद्यपि जैन दृष्टि यह स्वीकार करती है कि इस स्तर में व्यक्ति अपने छोटे से हित के लिए दूसरों का बड़ा अहित करने में नहीं सकुचाता। जैन विचारणा के उपर्युक्त उदाहरण में बताया गया है कि नील लेश्या वाला व्यक्ति फल के लिए समूल वृक्ष का नाश तो नहीं करता, लेकिन उसकी शाखा को काट देने की मनोवृत्ति रखता है अर्थात् उस वृक्ष का पूर्ण नाश नहीं, वरन् उसके एक भाग का नाश करता है। दूसरे शब्दों में आंशिक दुःख देता है। रास के तीसरे स्तर की तुलना जैन दृष्टि की कापोतलेश्या से की जा सकती है। जैन दृष्टि यह स्वीकार करती है कि नील और कापोत लेश्या के इन स्तरों में व्यक्ति सुखापेक्षी होता है, लेकिन जिन सुखों की वह गवेषणा करता है, वे वासनात्मक सुख ही होते हैं। दूसरे, जैन विचारणा यह भी स्वीकार करती है कि कापोत लेश्या के स्तर तक व्यक्ति अपने स्वार्थों या सुखों की प्राप्ति के लिए किसी नैतिक शुभाशुभता का विचार नहीं करता है। वह जो कुछ भी करता है वह मात्र स्वार्थ प्रेरित होता है। रास के तीसरे स्तर में व्यक्ति नैतिक

दृष्टि से अनुचित सुख प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार यहाँ पर भी रास एवं जैन दृष्टिकोण विचार-साम्य रखते हैं।

रास के चौथे, पाँचवें और छठे स्तरों की संयुक्त रूप से तुलना जैन दृष्टि की तेजोलेश्या के स्तर के साथ हो सकती है। रास चौथे स्तर में प्राणी की प्रकृति इस प्रकार बताते हैं कि व्यक्ति सुख तो पाना चाहता है, लेकिन वह उन्हीं सुखों की प्राप्ति का प्रयास करता है जो नैतिक दृष्टि से अनुचित भी नहीं हो, पाँचवें स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित सुखों को प्राप्त करना चाहता है तथा छठे स्तर पर वह दूसरों को सुख देने का प्रयास भी करता है। जैन विचारणा के अनुसार भी तेजोलेश्या के स्तर पर प्राणी नैतिक दृष्टि से उचित से उचित सुखों को ही पाने की इच्छा रखता है, साथ-साथ वह दूसरे की सुख-सुविधाओं का भी ध्यान रखता है।

रास के सातवें स्तर की तुलना जैन-दृष्टि में पद्मलेश्या से की जा सकती है, क्योंकि दोनों के अनुसार इस स्तर पर व्यक्ति दूसरों के हित का ध्यान रखता है तथा दूसरों के हित के लिए उन सब कार्यों को करने में तत्पर रहता है, जो नैतिक दृष्टि से शुभ हैं।

रास के अनुसार मनोभावों के आठवें सर्वोच्च स्तर पर व्यक्ति को मात्र अपने कर्तव्य का बोध रहता है। वह हिताहित की भूमिकाओं से ऊपर उठ जाता है। इसी प्रकार जैन विचारणा के अनुसार भी नैतिकता की इस उच्चतम भूमिका में जिसे शुक्ल लेश्या कहा जाता है, व्यक्ति को समत्व भाव की उपलब्धि हो जाती है, अतः वह स्व और पर भेद से ऊपर उठकर मात्र आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन, बौद्ध और बृहद् हिन्दू परम्परा वरन् पाश्चात्य विचारक भी इस विषय में एकमत हैं कि व्यक्ति के मनोभावों से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। व्यक्ति का आचरण एक ओर उसके मनोभावों का परिचायक है, तो दूसरी ओर उसके नैतिक व्यक्तित्व का निर्माता भी है। मनोभाव एवं तज्जनित आचरण जैसे-जैसे अशुभ से शुभ की ओर बढ़ता है, वैसे-वैसे व्यक्ति में भी परिपक्वता एवं विकास दृष्टिगत होता है। ऐसे शुद्ध, संतुलित, स्थिर एवं परिपक्व व्यक्तित्व का निर्माण जीवन का लक्ष्य है।

लेश्या सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकासक्रम

जहाँ तक लेश्या की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास क्रम का प्रश्न है। डॉ० ल्यूमेन और डॉ० हरमन जैकोबी की मान्यता यह है कि आजीवकों की षट्-अभिजातियों की कल्पना से ही जैनों में षट्-लेश्याओं की अवधारणा का विकास हुआ है। षट्-लेश्याओं के नाम आदि की षट्-अभिजातियों के नामों से बहुत कुछ साम्यता को देखकर उनका यह मान लेना अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता है फिर भी यदि अभिजाति सिद्धान्त और लेश्या-सिद्धान्त की मूल प्रकृति को देखें तो हमें दोनों में एक अन्तर प्रतीत होता है। अभिजाति का सिद्धान्त धार्मिक विश्वासों और साधनाओं के बाह्य आधार पर किया गया व्यक्ति का वर्गीकरण है, जबकि लेश्या का सिद्धान्त मनोवृत्तियों के आधार पर होने वाले मनोदैहिक परिवर्तनों और व्यक्ति के

व्यक्तित्व की चारित्रिक विशिष्टताओं का सूचक है। अतः नाम साम्यता होते हुए भी दोनों में दृष्टिगत भिन्नता है। दूसरे यह है कि पूर्णकश्यप, मंखली गोशाल आदि आजीवक आचार्य भी महावीर के समकालिक ही हैं, अतः किस्से किस्से लिया है यह कहना कठिन है। पुनः लेश्या शब्द जैनों का अपना पारिभाषिक शब्द है, किसी भी अन्य परम्परा में इस अर्थ में यह शब्द मिलता ही नहीं है। अतः इस अवधारणा के विकास का श्रेय तो जैन परम्परा को देना ही होगा। हो सकता है कि षट्-अभिजाति आदि उस युग में समानान्तर रूप से प्रचलित अन्य सिद्धान्तों से उन्होंने कृष्ण, शुक्ल, नील आदि नाम ग्रहण किये हों किन्तु यह भी ज्ञातव्य है कि षट्-अभिजातियों एवं षट्-लेश्याओं के नामों में भी पूरी समानता है केवल कृष्ण, नील और शुक्ल ये तीन समान हैं किन्तु लोहित, हारिद्र, पद्म-शुक्ल ये तीन नाम लेश्या सिद्धान्त में नहीं हैं, उनके स्थान पर कापोत, तेजो एवं पद्म ये तीन नाम मिलते हैं। अतः लेश्या सिद्धान्त अभिजाति सिद्धान्त की पूर्णतः अनुकृति नहीं है। मनोभावों, चारित्रिक विशुद्धि, लोक कल्याण की प्रवृत्ति आदि के आधार पर व्यक्तियों अथवा उनके व्यक्तित्व के वर्गीकरण की परम्परा सभी धर्म परम्पराओं में और सभी कालों में पाई जाती है। प्रत्येक धर्म परम्परा ने अपनी-अपनी दृष्टि से उस पर विचार किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या शब्द का प्रयोग अतिप्राचीन है। इतना निश्चित है कि प्राचीन पालि त्रिपिटक के दीघनिकाय और अंगुत्तरनिकाय, जिनमें अभिजाति का सिद्धान्त पाया जाता है, की अपेक्षा आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भाषा, शैली और विषयवस्तु तीनों ही दृष्टियों से प्राचीन है। विद्वान् उसे ई0 पू0 पाँचवीं-चौथी शती का ग्रन्थ मानते हैं और उसमें अबहिलेस्से²⁸ शब्द की उपस्थिति यही सूचित करती है कि लेश्या की अवधारणा महावीर के समकालीन है। पुनः उत्तराध्ययनसूत्र जो आचारांग और सूत्रकृतांग के अतिरिक्त अन्य सभी आगमों से प्राचीन माना जाता है, में लेश्याओं के सम्बन्ध में एक पूरा अध्ययन उपलब्ध होना यही सूचित करता है कि लेश्या की अवधारणा एक प्राचीन अवधारणा है। जैन दर्शन में आध्यात्मिक और चारित्रिक विशुद्धि की दृष्टि से परवर्ती काल में जो त्रिविध आत्मा का सिद्धान्त और गुण स्थान के सिद्धान्त अस्तित्व में आये, उसकी अपेक्षा लेश्या का सिद्धान्त प्राचीन है। क्योंकि न केवल आचारांग और उत्तराध्ययन में अपितु सूत्रकृतांग में 'सुविशुद्धलेसे' तथा औपपातिकसूत्र में 'अपडिलेस्स' शब्दों का उल्लेख मिलता है। यहाँ सर्वत्र लेश्या शब्द मनोवृत्ति का ही परिचायक है और साधक की आत्मा विशुद्धि की स्थिति को सूचित करता है।

वस्तुतः लेश्या सिद्धान्त में आत्मा के संकिल्ष्ट अथवा विशुद्ध परिणामों की चर्चा रंगों के आधार पर की गयी है। यह रंगों के आधार पर व्यक्तियों और उनके मनोभावों के वर्गीकरण की परम्परा भारतीय साहित्य में अति प्राचीन काल से रही है।

लेश्या की अवधारणा को प्राचीन कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि उसमें कोई विकास नहीं हुआ। यदि हम जैन साहित्य में उपलब्ध लेश्या सम्बन्धी विवरणों को पढ़ें तो स्पष्ट हो जाता है कि लेश्या-अवधारणा की अनेक दृष्टियों से विवेचना की गयी है। सर्वप्रथम

उत्तराध्ययनसूत्र²⁹ में नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु इन ग्यारह विचार बिन्दुओं (द्वारों) से उस पर विचार किया गया है। जबकि भगवती एवं प्रज्ञापनासूत्र³⁰ में निम्न पन्द्रह विचार बिन्दुओं (द्वारों) से लेश्या की चर्चा की गयी है।

1. परिणाम, 2. वर्ण, 3. रस, 4. गंध, 5. शुद्ध, 6. अप्रशस्त, 7. संक्लिष्ट, 8. उष्ण, 9. गति, 10. परिणाम, 11. प्रदेश, 12. वर्णना, 13. अवगाहना, 14. स्थान एवं 15. अल्पबहुत्व।

इसके पश्चात् दिगम्बर परम्परा में अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक³¹ में लेश्या की विवेचना के निम्न सोलह अनुयोगों की चर्चा की है-- 1. निर्देश, 2. वर्ण, 3. परिणाम, 4. संक्रम, 5. कर्म, 6. लक्षण, 7. गति 8. स्वामित्व, 9. संख्या, 10. साधना, 11. क्षेत्र 12. स्पर्शन, 13. काल, 14. अन्तर, 15. भाव और 16. अल्प बहुत्व।

अकलंक के पश्चात् गोम्मतसार के जीवकाण्ड³² में भी लेश्या की विवेचना के उपर्युक्त 16 ही अधिकारों का उल्लेख हुआ है। विस्तारभय से हम यहाँ इन सभी की चर्चा नहीं कर रहे हैं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से लेश्या का प्राचीन होने पर भी इसमें क्रमिक विकास देखने को मिलता है। इसकी विस्तृत चर्चा कु० (डॉ०) शान्ता जैन ने अपने शोध-प्रबंध में की है।

आधुनिक विज्ञान और लेश्या सिद्धान्त

हम देखते हैं कि ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से ई० पू० दशवीं शताब्दी तक लेश्या सम्बन्धी चिन्तन में जो क्रमिक विकास हुआ था, वह 11-12वीं शताब्दी के बाद प्रायः स्थिर हो गया था। किन्तु आधुनिक युग में मनोविज्ञान, रंग-मनोविज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि ज्ञान की नयी विधाओं के विकास के साथ जैन दर्शन की लेश्या संबंधी विवेचनाओं को एक नया मोड़ प्राप्त हुआ। जैन दर्शन के लेश्या सिद्धान्त को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का मुख्य श्रेय आचार्य तुलसी के विद्वान शिष्य युवाचार्य महाप्रज्ञ जी को जाता है। उन्होंने आधुनिक व्यक्तित्व मनोविज्ञान के साथ-साथ आभामण्डल, रंग-मनोविज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि अवधारणाओं को लेकर 'आभामण्डल' जैनयोग आदि अपने ग्रंथ में इसका विस्तार से वर्णन किया है। प्राचीन और अर्वाचीन अवधारणाओं को लेकर कु० डॉ० शान्ता जैन ने लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नामक एक शोध-प्रबन्ध लिखा है जिसमें लेश्या के विभिन्न पक्षों की चर्चा की गयी है। उन्होंने अपने इस शोध-ग्रन्थ में लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष, मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या, रंगों की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, लेश्या और आभामण्डल, व्यक्तित्व और लेश्या, सम्भव है व्यक्तित्व बदलाव और लेश्या ध्यान, रंगध्यान और लेश्या आदि लेश्या के विभिन्न आयामों पर गम्भीरता से विचार किया है।

वस्तुतः उनका यह ग्रन्थ लेश्या की प्राचीन अवधारणा की आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में एक नवीन व्याख्या है और भावी लेश्या सम्बन्धी अध्ययनों के लिए मार्ग प्रदर्शक है। इसके अध्ययन से यह प्रतिकल्पित होता है कि भारतीय चिन्तन की प्राचीन अवधारणाओं को

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सन्दर्भ में किस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है और उनकी समकालिक प्रासंगिकता को कैसे सिद्ध किया जा सकता है। आशा है आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्येता इस दिशा में अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ायेंगे और इस प्रकार के अध्ययन का जो द्वार युवाचार्य महाप्रज्ञ और डॉ० शान्ता जैन ने उद्घाटित किया है, उसे नया आयाम प्रदान करेंगे और साथ ही मानव के चारित्रिक बदलाव और आध्यात्मिक विशुद्धि की दिशा में सहयोगी बनेंगे। आज पर्यावरण की विशुद्धि पर ध्यान तो दिया जाने लगा है किन्तु इस भौतिक पर्यावरण की अपेक्षा जो हमारा मनोदैहिक और मानसिक पर्यावरण है और जिसे जैन परम्परा में लेश्या कहा गया है उसे भी शुद्ध रखने की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि लेश्या की अन्वेषण हमें यही इंगित करती है कि हम संक्लिष्ट मानसिक परिणामों से ऊपर उठकर अपने मानसिक पर्यावरण को किस प्रकार शुद्ध रख सकते हैं।

सन्दर्भ

1. देखें -- अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड 3, पृ० 395
2. लेश्या -- अतीव चक्षुरादीपिका स्निग्ध, दीप्त, रूपा छाया -- उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति पत्र 650
3. देखें -- भगवती आराधना, भाग 2 (सम्पादक पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, गाथा 1901
4. श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खण्ड पंचम, पृ० 461
5. डॉ० शान्ता जैन, लेश्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, प्रथम अध्याय
6. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड 6, पृ० 675
7. (अ) दर्शन और चिन्तन, भाग 2, पृ० 297
(ब) अभिधान राजेन्द्र, खण्ड 6, पृ० 675
8. उत्तराध्ययन, 34/3
9. एथिकल स्टडीज, पृ० 65
10. उत्तराध्ययन, 34/21-22
11. वही, 34/21-22
12. वही, 34/25-26
13. वही, 34/27-28
14. वही, 34/29-30.
15. वही, 34/31-32
16. अंगुत्तरनिकाय, 6/3
17. वही, 6/3
18. गीता, 16/6
19. वही 16/5
20. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड 6, पृ० 687

21. उत्तराध्ययन, 34/56-57
22. दर्शन और चिन्तन, भाग - 2, पृ० 112
23. उत्तराध्ययन 34/27-32
24. गीता, 16/1-3
25. उत्तराध्ययन, 34/21-36
26. गीता, 16/7-18
27. फाउण्डेशन ऑफ एथिक्स - उद्धृत, Contemporary Ethical Theories, पृ० 332
28. आयारो - 6/106
29. उत्तराध्ययन - 34/2
30. प्रज्ञापना सूत्र, 17/411
31. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० 238
32. गोम्मटसार - जीवकाण्ड, गाथा 491-492

प्रज्ञापुरुष पं० जगन्नाथजी उपाध्याय की दृष्टि में बुद्ध "व्यक्ति" नहीं "प्रक्रिया" (एक संस्मरण)

- प्रो० सागरमल जैन
- डॉ० रमेश चन्द्र गुप्त

मेरे शोध-छात्र श्री रमेशचन्द्र गुप्त "तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा" पर शोध कार्य कर रहे थे। हम लोगों के सामने मुख्य समस्या थी कि ईश्वर और आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करने वाले क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन में बुद्ध, बोधिसत्व और त्रिकाय की अवधारणाओं की संगतिपूर्ण व्याख्या कैसे सम्भव है ? जब किसी नित्य आत्मा की सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया जा सकता है, तो हम कैसे कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति बुद्ध-बनता है। पुनः जब आत्मा ही नहीं है तब बोधिचित्त का उत्पात किस्में होता है ? पुनः बौद्ध दर्शन यह भी मानता है कि प्रत्येक सत्त्व बुद्ध-बीज है, किन्तु जब सत्त्व की ही क्षण मात्र से अधिक सत्ता नहीं है तो वह बुद्ध-बीज कैसे होगा और कैसे वह बोधिसत्व होकर विभिन्न जन्मों में बोधिपरिमिताओं की साधना करता हुआ बुद्धत्व को प्राप्त करेगा ? यदि सत्ता मात्र क्षण-जीवी है तो क्या बुद्ध का अस्तित्व भी क्षण-जीवी है ?¹

महासंघिकों ने तो बुद्ध के रूपकाय को भी अमर और उनकी आयु को अनन्त माना है।² सद्धर्मपुण्डरीक में भी बुद्ध की आयु अपरिमित कही गई है।³ किन्तु यदि बुद्ध का रूपकाय अमर और आयु अपरिमित या अनन्त है तो फिर बौद्ध दर्शन की क्षणिकवादी अवधारणा कैसे सुसंगत सिद्ध होगी ?

पुनः बौद्धदर्शन में यह भी माना जाता है कि बुद्ध निर्माणकाय के द्वारा नाना रूपों में प्रकट होकर लोहित के लिए उपदेश करते हैं तो फिर यह समस्या स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है कि किसी नित्य-तत्त्व के अभाव में इस निर्माणकाय की रचना कौन करता है ? यदि विशुद्धिमग की भाषा में हम मात्र क्रिया की सत्ता माने, कर्त्ता की नहीं, तो फिर कोई व्यक्ति मार्ग का उपदेशक कैसे हो सकता है ? धर्मचक्र का प्रवर्तन कौन करता है ? वह कौन सा सत्त्व या चित्त है, जो बुद्धत्व को प्राप्त होता है और परम कारुणिक होकर जन-जन के कल्याण के लिए युगों-युगों तक प्रयत्नशील बना रहता है ? महायानसूत्रालंकार में यह भी कहा गया है कि बुद्ध के तीनों काय, आश्रय और कर्म से निर्विशेष हैं। इन तीनों कार्यों में तीन प्रकार की नित्यता है, जिनके कारण तथागत नित्य कहलाते हैं।⁴ समस्या यह है कि एकान्तरूप से क्षणिकवादी बौद्ध के दर्शन में नित्य त्रिकायों की अवधारणा कैसे सम्भव हो सकती है ?

ये सभी समस्यायें हमारे मानस को झकझोर रही थीं और हम यह निश्चित नहीं कर

पा रहे थे कि अनात्मवादी बौद्ध दर्शन के सांचे में इन विसंगतियों का निराकरण कैसे सम्भव हो सकता है ? इस सम्बन्ध में हमने बौद्ध-विद्या एवं दर्शन के विद्वानों से विचार-विमर्श किये परन्तु ऐसा कोई समाधान नहीं मिला जो हमारे मानस को पूर्ण सन्तोष दे सके।

इन्हीं समस्याओं को लेकर हमने अन्ततोगत्वा वाराणसी के बौद्धधर्म एवं दर्शन के वरिष्ठ विद्वान् पं० जगन्नाथजी उपाध्याय की सेवा में उपस्थित होने का निश्चय किया और एक दिन उनके पास पहुँच ही गये। हमने उनसे इन समस्याओं के सन्दर्भ में लगभग दो घण्टे तक चर्चा की। इन समस्याओं के सम्बन्ध में उनसे हमें जो उत्तर प्राप्त हुए, उनसे न केवल हमें सन्तोष ही हुआ, बल्कि यह भी बोध हुआ कि पं० जगन्नाथजी उपाध्याय ऐसे बहुश्रुत विद्वान् हैं, जो बौद्धधर्म एवं दर्शन को उसके ही धरातल पर खड़े होकर समझने और उसके सम्बन्ध में उठायी गयी समस्याओं का उसकी ही दृष्टि से समाधान देने की सामर्थ्य रखते हैं। सम्भवतः उनके स्थान पर दूसरा कोई पण्डित होता तो वह इन समस्याओं को बौद्धदर्शन की कमजोरी कहकर अलग हो जाता। किन्तु उन्होंने जो प्रत्युत्तर दिये, वे इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने निष्ठापूर्वक श्रमण-परम्परा का और विशेष रूप से बौद्ध परम्परा का गम्भीर अध्ययन किया था। यद्यपि नित्य आत्म तत्त्व के अभाव में कर्म-फल, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि की समस्याओं का समाधान बौद्धदर्शन के अनात्मवादी और क्षणिक ढांचे में कैसे सम्भव है ? इस समस्या के समाधान के लिए प्रो० हिरियन्ना ने अपने ग्रन्थ "भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व" (Elements of Indian Philosophy) में किसी सीमा तक एक समाधान देने का प्रयत्न किया है। किन्तु पण्डित जगन्नाथजी उपाध्याय ने बुद्धत्व की समस्याओं का इसी दृष्टि से जो समाधान प्रस्तुत किया उसके आधार पर वे निश्चित ही बौद्ध दर्शन के प्रत्युत्पन्नमति के श्रेष्ठ दार्शनिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि "बुद्ध" की अवधारणा के सन्दर्भ में उपर्युक्त समस्याओं का समाधान न तो हमें ग्रन्थों से और न विद्वानों से प्राप्त हो सका था। उपर्युक्त समस्याओं के सन्दर्भ से प्रज्ञापुरुष पं० जगन्नाथजी उपाध्याय ने जो समाधान दिये थे, उनकी भाषा चाहे आज हमारी अपनी हो, परन्तु विचार उनके ही हैं। वस्तुतः हम उनकी ही बात अपनी भाषा में व्यक्त कर रहे हैं -- यदि हमें इस बात का जरा भी एहसास होता कि इतने सुन्दर समाधान प्राप्त होंगे और पं० जी हम लोगों के बीच से इतनी जल्दी विदा हो जायेंगे ? तो हम उनकी वाणी को रिकार्ड करने की पूर्ण व्यवस्था कर लेते। किन्तु आज हमारे बीच न तो वह प्रतिभा है और न इस सम्बन्ध में उनके शब्द ही हैं। फिर भी हम जो कुछ लिख रहे हैं, वह उनका ही कथन है। यद्यपि प्रस्तुतीकरण की कमी हमारी अपनी हो सकती है।

उनका कहना था कि बुद्धत्व की अवधारणा के सन्दर्भ में आपके द्वारा प्रस्तुत इन सभी असंगतियों का निराकरण चित्तसन्तति या चित्तधारा के रूप में किया जा सकता है। हम बुद्ध को व्यक्ति न मानें, अपितु परार्थ क्रियाकारित्व की एक प्रक्रिया मानें। बुद्ध एक नित्य-व्यक्तित्व (An Eternal Personality) नहीं, अपितु एक प्रक्रिया (A Process) है। बुद्ध के जो तीन या चार काय माने गये हैं, वे इस प्रक्रिया के उपाय या साधन हैं। धर्मकाय की नित्यता की जो बात कही गयी है, वह स्थितिगत नित्यता नहीं अपितु क्रियागत नित्यता है। जिस

प्रकार नदी का प्रवाह युगों-युगों तक चलता रहता है यद्यपि उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन और नवीनता होती रहती है। ठीक उसी प्रकार बुद्ध या बोधिसत्त्व भी एक चित्तधारा है, जो उपायों के माध्यम से सदैव परार्थ में लगी रहती है।

बुद्ध के सन्दर्भ में जो त्रिकायों की अवधारणा है उसका अर्थ यह नहीं कि कोई नित्य आत्मसत्ता है, जो इन कार्यों को धारण करती है। वस्तुतः ये काय परार्थ के साधन या उपाय हैं। जिस चित्तधारा से बोधिचित्त का उत्पाद होता है, वह बोधिचित्त इन कार्यों के माध्यम से कार्य करता है। बुद्धत्व कोई व्यक्ति नहीं है, अपितु वह एक प्रक्रिया (A Process) है। धर्म की नित्यता मार्ग की नित्यता है। धर्म भी कोई वस्तु नहीं, अपितु प्रक्रिया है। जब हम धर्मकाय की नित्यता की बात करते हैं, तो वह व्यक्ति की नित्यता नहीं अपितु प्रक्रिया विशेष की नित्यता है। धर्मकाय नित्य है, इसका तात्पर्य यही है कि धर्म या परिनिर्वाण के उपाय नित्य हैं। बौद्धदर्शन में कार्यों की इस अवधारणा को भी हमें इसी उपाय प्रक्रिया के रूप में समझना चाहिए। ऐसा नहीं मानना चाहिए कि कोई नित्य आत्मा है, जो इन्हें धारण करती है। अपितु इन्हें परार्थक्रियाकारित्व के उपायों के रूप में समझना चाहिए और यह मानना चाहिए कि परार्थक्रियाकारित्व ही बुद्धत्व है।

बुद्ध के त्रिकायों के नित्य होने का अर्थ इतना ही है कि परार्थक्रियाकारित्व की प्रक्रिया सदैव-सदैव रहती है। वह चित्त जिसने लोकमंगल का संकल्प ले रखा है, जब तक वह संकल्प पूर्ण नहीं होता है, अपने इस संकल्प की क्रियान्विति के रूप में परार्थ-क्रिया करता रहता है। साथ ही वह संकल्प लेने वाला चित्त भी आपकी, हमारी या किसी की भी चित्तधारा की सन्तान हो सकता है। क्योंकि सभी चित्तधाराओं में बोधिचित्त के उत्पाद की सम्भावना है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि सभी जीव बुद्ध-बीज हैं। महायान में जो अनन्त बुद्धों की कल्पना है, वह कल्पना भी व्यक्ति की कल्पना नहीं, अपितु प्रक्रिया की कल्पना है। क्योंकि यदि प्रक्रिया को सतत् चलना है तो हमें अनन्त बुद्धों की अवधारणा को स्वीकार करना होगा। यदि प्रत्येक चित्तधारा में बोधिचित्त के उत्पाद की सम्भावना है, तो ऐसी स्थिति में बोधिचित्त एक नहीं अनेक भी हो सकते हैं। वस्तुतः बुद्ध के सम्बन्ध में जो एकत्व और अनेकत्व के सन्दर्भ उपलब्ध हैं, वे भी कोई विरोधाभास प्रस्तुत नहीं करते। प्रक्रिया के रूप में बुद्ध एक है, किन्तु प्रक्रिया के घटकों के रूप में वे अनेक भी हैं। बुद्ध अनेक रूपों में प्रकट होते हैं इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोई व्यक्ति अनेक रूपों में प्रकट होता है, अपितु यह कि लोकमंगलकारी चित्तधारा, जो एक प्रक्रिया है, अनेक रूपों में प्रकट होती हुई अनेक रूपों में लोकमंगल करती है। बुद्ध के द्वारा अनेक सम्भोगकाय धारण करने का मतलब यह है कि बोधिचित्तधारा के अनेक चित्तक्षण अनेकानेक उपायों से लोकहित का साधन करते हैं। महायान परम्परा में बोधिचित्त के इस संकल्प का, कि जब तक समस्त प्राणी निर्वाण लाभ न कर लें या दुःख से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक मैं लोक-मंगल के लिए सतत् प्रयत्नशील रहूँगा, तात्पर्य यह है कि चित्त-संतति की धारा सतत् रूप से लोकमंगल में तत्पर रहने का निर्णय लेती है और तदनुसार अपनी चित्तसंतति के प्रवाह को बनाये रखती है। पुनः बुद्ध के सन्दर्भ में जो यह

कहा जाता है कि बुद्ध न तो निर्वाण में स्थित हैं और न संसार में। इसका कारण यह है कि महायान परम्परा में बुद्ध के दो प्रमुख लक्षण माने गये हैं -- प्रज्ञा और करुणा। प्रज्ञा के कारण बोधिचित्त संसार में प्रतिष्ठित नहीं होता। दूसरे शब्दों में प्रज्ञा उन्हें संसार में प्रतिष्ठित नहीं होने देती। (कोई भी प्रज्ञायुक्त पुरुष दुःखमय संसार में रहना नहीं चाहेगा), किन्तु दूसरी ओर बुद्ध अपने करुणा-लक्षण के कारण निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं हो पाते। उनकी करुणा उन्हें निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नहीं होने देती, क्योंकि कोई भी परमकारुणिक व्यक्तित्व दूसरों को दुःखों में लीन देखकर कैसे निर्वाण में प्रतिष्ठित रह सकता है।

अतः बोधिचित्त न तो वे निर्वाण प्राप्ति के कारण निष्क्रिय होते हैं और न लोकमंगल करते हुए भी संसार में आबद्ध होते हैं। यह बोधिचित्त भी व्यक्ति नहीं प्रक्रिया ही होता है जो निर्वाण को प्राप्त करके भी लोकमंगल के हेतु सतत् क्रियाशील बना रहता है और यही लोकमंगल के क्रियाशील बोधि प्राप्त चित्त सन्तति ही बुद्ध या बोधिसत्व है। अतः बुद्ध नित्य-व्यक्तित्व नहीं अपितु नित्य प्रक्रिया है और बुद्ध की नित्यता का अर्थ लोकमंगल की प्रक्रिया की नित्यता है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य -- तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार, सम्पादक - डॉ० सागरमल जैन, लेखक डॉ० रमेश चन्द्र गुप्त, प्रकाशक -- पार्श्वनाथ विद्याभ्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, पृ० 169-172
2. द्रष्टव्य -- बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० 341
3. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० 206-207
4. महायानसूत्रालंकार, पृ० 45-46



पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नये प्रकाशन

पुस्तक - तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा

लेखक एवं सम्पादक - प्रो० सागरमल जैन

प्रकाशक - पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ (ग्र० मा० सं० ६७), वाराणसी - ५, १९६४

आकार - डिमाई पेपर बैक, पृष्ठ - १२+१४८, मूल्य - तीस रुपये मात्र ।

तत्त्वार्थसूत्र संक्षेप में जैनधर्म एवं दर्शन की सभी मूलभूत मान्यताओं को प्रस्तुत करने के कारण जैनधर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। इसकी मान्यता सभी परम्पराओं में है। इसके लेखक, लेखनकाल, परम्परा आदि को लेकर विद्वानों में मतभेद है। विभिन्न सम्प्रदाय के विद्वानों द्वारा इसे अपनी अपनी परम्परा का ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है जिसके फलस्वरूप एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप भी लगाये गये, जिससे मतभेद और भी गहरे होते गये।

प्रो० सागरमलजी जैन ने अत्यन्त परिश्रम से तत्त्वार्थसूत्र के लेखक, रचनाकाल, लेखक की परम्परा आदि प्रश्नों पर विचार किया है और अपने निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये हैं। इस कृति में लेखक ने पूर्ववर्ती मुनियों एवं विद्वानों की कृतियों का भलीभाँति अध्ययन किया है और उनके द्वारा दिये गये तर्कों एवं निष्कर्षों की समीक्षा करते हुए अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है। लेखक का यह कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र साम्प्रदायिक विघटन एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के पूर्व की रचना है।

लेखक ने इस कृति को जैनविद्या के मूर्धन्य विद्वान् पं० सुखलालजी संघवी, पं० बेचरदास जी दोशी, पं० नाथूराम जी प्रेमी, पद्मभूषण पं० दलसुखभाई मालवणिया, प्रो० हीरालाल जी, प्रो० नथमल टाटिया एवं प्रो० मधुसूदन जी ढाकी को समर्पित किया है।



पुस्तक - सागर जैन विद्याभारती (भाग १)

लेखक एवं सम्पादक - प्रो० सागरमल जैन

प्रकाशक - पार्श्वनाथ शोधपीठ (ग्र० मा० सं० ७०) वाराणसी-५,

प्रथम संस्करण - १९६४, पृष्ठ - ३२+२६४, आकार - डिमाई पेपर बैक,

मूल्य - १०० रुपये मात्र

पार्श्वनाथ शोधपीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन का अध्ययन और लेखन क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा है। प्रो० जैन उन अग्रणी विद्वानों में से हैं जिनका जैन विद्या के लगभग सभी पक्षों पर समान अधिकार है। आपने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, शोध-पत्रिकाओं, अभिनन्दन ग्रन्थों, स्मृति-ग्रन्थों, संगोष्ठियों, सम्मेलनों के लिये और भूमिका के रूप में अभी तक लगभग कुल तीन हजार पृष्ठों की सामग्री लिखी है। जिसे दस खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है। इस प्रथम खण्ड में १८ लेख संगृहीत हैं।

इस खण्ड के प्रारम्भ के ३३ पृष्ठों में प्रो० सागरमल जैन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी उल्लेख किया गया है। इस खण्ड में संगृहीत लेखों एवं निबन्धों का शीर्षक इस प्रकार है —

१. जैनधर्म-दर्शन का सारतत्त्व, २. भगवान महावीर का जीवन एवं दर्शन,
३. जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा, ४. जैनधर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्थान,
५. जैनसाधना में ध्यान, ६. अर्धगामी आगम साहित्य में समाधिमरण की अवधारणा,
७. जैन कर्म सिद्धान्त — एक विश्लेषण, ८. भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप,
९. पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म, १०. जैनधर्म और सामाजिक समता,
११. जैन आगमों में मूल्यात्मक शिक्षा और वर्तमान सन्दर्भ, १२. खजुराहो की कला और जैनाचार्यों की समन्वयात्मक एवं सहिष्णु दृष्टि, १३. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जैनधर्म सम्बन्धी मन्तव्यों की समालोचना, १४. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचार्ये — एक अध्ययन, १५. निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन, १६. जैन एवं बौद्ध पारिभाषिक शब्दों के अर्थ निर्धारण और अनुवाद की समस्या, १७. जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन — एक विमर्श, १८. भगवान् महावीर की निर्वाणतिथि पर पुनर्विचार।



पुस्तक — नेमिदूतम्

लेखक — कवि विक्रम, हिन्दी अनुवाद — डॉ० धीरेन्द्र मिश्र

प्रकाशक — पार्श्वनाथ शोधपीठ (ग्र० सं० ६८)

प्रथम संस्करण — १९६४, पृष्ठ — ४६+१३६,

आकार — पेपर बैक डिमाई, मूल्य — ५० रु० मात्र।

नेमिदूतम् की कथावस्तु २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा राजीमती से सम्बन्धित है, जिसमें नेमिनाथ द्वारा सांसारिक विषय-वासनाओं से विरक्त होकर परमपद की प्राप्ति हेतु योग-साधना में रामगिरि पर निवास करना है। नेमिनाथ के उक्त वृत्तान्त को जानकर राजीमती (जिसका विवाह नेमिनाथ के साथ होना था) उनका अनुगमन करती हुई रामगिरि पर जाकर नेमिनाथ से लौट आने के लिए बहुविध-प्रार्थना करती है, किन्तु वह नेमिनाथ को समझने में असफल हो जाती है। तत्पश्चात्

नेमिनाथ राजीमती को उपदेश देकर अपने संघ में साध्वी के रूप में दीक्षित कर देते हैं।

उक्त घटना को कवि ने जिस विलक्षण कल्पना से प्रस्तुत किया वस्तुतः वह अनुपम है। साथ ही शान्तरस प्रधान इस गीति-काव्य में कवि ने जितनी चतुराई से शृंगार रस की योजना की है उससे कहीं अधिक करुण रस की योजना में कवि की काव्य-कुशलता दिखाई देती है। यही नहीं साहित्यिक दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपने आपमें विलक्षण है।

नेमिदूतम् की व्याख्या करके धीरेन्द्र मिश्र ने इस कृति को पाठकों के समक्ष सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।



पुस्तक - भगवान महावीर निर्वाण-भूमि पावा : एक विमर्श

लेखक - भगवती प्रसाद खेतान, सम्पादक - डॉ० अशोक कुमार सिंह,

प्रकाशक - पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ (ग्र० मा० सं० ६१), वाराणसी - ५, प्रथम संस्करण - १९६३

पृष्ठ - २३४, आकार - डिमाई पेपर बैक, मूल्य - ६० रुपये (मानचित्र, मूर्ति-अभिलेख आदि के चित्रों सहित)।

भगवान महावीर की निर्वाण-भूमि पावा के अन्वेषण की दिशा में जो कठिन परिश्रम श्री भगवती प्रसाद जी ने किया है वह अत्यन्त सराहनीय और स्पृहणीय है। जैन समाज गंगा के दक्षिण-पश्चिम में राजगृह के निकट स्थित पावापुरी को महावीर की निर्वाणस्थली मानता आया है पर भारतीय पाश्चात्य शोध विद्वानों का निष्कर्ष यह है कि महावीर की निर्वाणस्थली वैशाली और श्रावस्ती के मध्य गंगा के उत्तर में गंडक के समीप कहीं थी। विद्वानों द्वारा अद्यावधि निम्न स्थलों को पावा सिद्ध करने का प्रयास किया गया है -

१. ग्राम पपतार, २. पवैया, ३. आज्ञा, ४. उस्मानपुर, ५. झरमटिया, ६. पपउर, ७. सठियाँव फाजिलनगर एवं ८. पावापुरी पडरौना। विद्वान् लेखक ने सब स्थानों के सम्बन्ध में देशी विदेशी पुरातत्वज्ञों के प्रमाणों की सबल समीक्षा की है और विस्तार से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पडरौना ही महावीर की निर्वाण भूमि प्राचीन पावा है। पडरौना को पावा सिद्ध करने के लिए उन्होंने पडरौना-अनुशीलन, भौगोलिक चिन्तन, पुरातत्त्विक सर्वेक्षण, पावा-गंडक सम्बन्ध, प्राग्बुद्धकालीन और बुद्धकालीन मार्ग के विवेचन से उन्होंने पडरौना की स्थिति को मजबूत करने का बहुत अच्छा प्रयत्न किया है।

विद्वान् लेखक ने अपने ग्रन्थ में पावा - सम्भावित क्षेत्रफल के सम्बन्ध में ८ परिशिष्ट भी जोड़े हैं। कुल मिलाकर यह श्री खेतानजी के दीर्घकालीन गहन अध्ययन, अनुसन्धान तथा चिन्तन का अनुकरणीय परिचायक है। यह श्री खेतानजी

की सुशीलता है कि उन्होंने भगवान महावीर की परम्परागत निर्वाण-स्थली पावापुरी को तिरस्कृत किये बिना पडरौना को उनका निर्वाणस्थल सिद्ध किया है। पडरौना के प्राचीन टीले का आगे पुरातात्विक उत्खनन किया जाय तो और महत्वपूर्ण तथ्य सामने आयेंगे और भविष्य में पडरौना को जैन समाज के पूजनीय तीर्थस्थल के रूप में आदर प्राप्त हो सकेगा। यदि श्री खेतानजी और पडरौना का जैन समाज बिहार और बंगाल के श्वेताम्बर और दिगम्बर समाजों के साथ मिलकर भगवान् महावीर के एक या दो मन्दिर खोज सकें तो निश्चय ही पडरौना - पावा एक महत्वपूर्ण जैन तीर्थ के रूप में विकसित हो सकेगा।



पुस्तक - शीलदूतम्

लेखक - चारित्र सुन्दरगणि

हिन्दी अनुवाद - साध्वी प्रमोद कुमारी जी एवं पं० विश्वनाथ पाठक

प्रकाशक - पार्श्वनाथ शोधपीठ, ग्रन्थमाला सं० ६६

आकार - पेपरबैक डिमाई, प्रथम संस्करण - १९६४

पृष्ठ - ४२, मूल्य - बीस रुपये मात्र।

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में जैनाचार्यों का महत्वपूर्ण अवदान है। १३१ श्लोकों में निबद्ध, जैनाचार्य चारित्र सुन्दरगणि विरचित 'शीलदूतम्' जैन मेघदूत की तरह एक पादपूर्त्यात्मक दूतकाव्य है। जहाँ जैन मेघदूत में राजुल और नेमि का संवाद वर्णित है, वहीं 'शीलदूतम्' में स्थूलभद्र और वेश्या कोशा का संवाद है। उल्लेखनीय है कि जैनाचार्यों ने शृंगार की अपेक्षा वैराग्य को अधिक प्रमुखता दी है। 'शीलदूतम्' भी एक शान्तरसपरक रचना है जिसमें विचारों के दो प्रतिकूल धरातलों पर स्थित स्थूलभद्र और कोशा के वैचारिक संघर्षों में कोशा के प्रणय-निवेदन की निष्पत्ति वैराग्य में होती है और यही इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है।

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अभी तक अनुपलब्ध था। यह गुरुतर कार्य विद्वद्द्वय साध्वी प्रमोद कुमारी जी एवं पं० विश्वनाथ पाठक ने किया और केवल विद्वद्भोग्या इस रचना को अपनी प्रांजल भाषा में सर्वसाधारण हेतु उपलब्ध कराया। यह पुस्तक संस्कृत साहित्य के अध्येताओं के साथ-साथ जनसामान्य के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

कृति श्रेष्ठ एवं संग्रहणीय है।



पुस्तक - शृंगारवैराग्यतरंगिणी

लेखक - श्री सोमप्रभ आचार्य

हिन्दी अनुवाद - अशोक मुनि, सम्पादक - डॉ० अशोक कुमार सिंह

प्रकाशक - पार्श्वनाथ शोधपीठ, ग्र० मा० सं० ७३

आकार — पेपर बैक डिमाई, प्रथम संस्करण — १९६५

पृष्ठ — ३२, मूल्य — २० रुपये मात्र।

जैन परम्परा निवृत्तिमार्गी रही है। यही कारण है कि जैन साहित्य में शृंगार रस की अपेक्षा शान्तरस (वैराग्य) को ही प्रमुखता प्राप्त है किन्तु शृंगार की उपेक्षा की गयी है, ऐसा भी नहीं है। कविवर सोमप्रभ आचार्य विरचित, ४६ श्लोकों में निबद्ध 'शृंगारवैराग्यतरंगिणी' एक ऐसी रचना है जो शृंगार एवं वैराग्य दोनों ही रसों का अभूतपूर्व संगम है। शृंगार अपने समग्र अस्तित्व में इस रचना के कतिपय विन्यासों से फूट पड़ता है तो वैराग्य शृंगार की निःसारता को प्रकट करता हुआ मोक्ष को ही अपना अभीष्ट मानता है। जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने शृंगार का पर्यावसान वैराग्य में ही किया है।

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अभी तक अनुपलब्ध था। मुनि श्री अशोक ने इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य सम्पादित कर केवल विद्वद्भोग्या इस रचना को जनसामान्य हेतु सुलभ बनाया। पुस्तक संस्कृत साहित्य के अध्येताओं, वैराग्य प्रेमी मुनिजनों एवं जनसामान्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

कृति श्रेष्ठ एवं संग्रहणीय है।



पुस्तक — हरिभद्र साहित्य में समाज और संस्कृति

लेखिका — डॉ० (श्रीमती) कमल जैन

पृष्ठ — २२५, आकार — डिमाई पेपर बैक

प्रथम संस्करण — १९६४, मूल्य — १००.०० रुपए।

जैन साहित्य को आचार्य हरिभद्र (याकिनीसूनु) का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनका साहित्य विविध एवं विपुल है। प्रस्तुत कृति में लेखिका ने हरिभद्र साहित्य में वर्णित समाज और संस्कृति के विविध आयामों का तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है। अपने गहन अध्ययन के आधार पर डॉ० जैन ने समाज और संस्कृति के सभी मुख्य बिन्दुओं को न केवल स्पर्श किया है बल्कि उसकी गम्भीर विवेचना की है।

ग्रन्थ १२ अध्यायों में वर्गीकृत है जिसमें क्रमशः आचार्य के जीवनवृत्त एवं साहित्य, उनके साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन, आचार्य का दार्शनिक अवदान, योग के क्षेत्र में अवदान, श्रावकाचार एवं श्रमणाचार का विस्तृत विवेचन किया गया है। साथ ही हरिभद्र वाङ्मय में वर्णित सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक तथ्यों का भी यथास्थान विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक हरिभद्र साहित्य पर शोध कर रहे शोधार्थियों एवं अध्येताओं के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।



पुस्तक – जैन विद्या के आयाम (Aspects of Jainology) खण्ड – ५
सम्पादक – प्रो० सागरमल जैन एवं डॉ० अशोक कुमार सिंह
आकार – डबल डिमाई पेपरबैक, प्रथम संस्करण – १९६४
पृष्ठ – १६६, मूल्य – रु० २००.०० मात्र।

जैन विद्या के आयाम खण्ड-५ श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता के हीरक जयन्ती एवं पूज्य सीहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ के स्वर्णजयन्ती वर्ष १९८८ के उपलक्ष्य में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसभा कलकत्ता द्वारा आयोजित विद्वत्गोष्ठी हेतु प्रस्तुत निबन्धों का संकलन है। जिन निबन्धों का संकलन इस ग्रंथ में किया गया है, वे हैं --

अर्धमागधी आगम साहित्य : एक विमर्श – प्रो० सागरमल जैन, आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य – डॉ० सुदर्शनलाल जैन, निर्युक्ति साहित्य : एक परिचय – डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, मूलाचार में वर्णित आचार नियम – डॉ० अरुण प्रताप सिंह, हिन्दी मरुगुर्जर जैन साहित्य का महत्त्व और मूल्य – डॉ० शितिकण्ठ मिश्र, हिन्दी जैनपत्रकारिता का इतिहास एवं मूल्य – डॉ० संजीव भानावत, अनेकान्त अहिंसा तथा अपरिग्रह की अवधारणाओं का मूल्यांकन : आधुनिक विश्व समस्याओं के सन्दर्भ में – डॉ० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, प्राचीन जैन ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त का विकासक्रम – डॉ० अशोक कुमार सिंह, श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गच्छों का सामान्य परिचय – डॉ० शिवप्रसाद, दिगम्बर जैन परम्परा में संघ, गण, गच्छ, कुल और अन्वय – डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी', जैनधर्म में अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव एवं इतिहास – प्रो० नरेन्द्र भानावत् श्रावकाचार का मूल्यात्मक विवेचन – सुभाष कोठारी, Contribution of Jainism to Indian History by A.K. Chatterjee और Jahangir and Non-violence by Prof. R. N. Mehata.

ग्रन्थ में जैन विद्या के विविध आयामों पर विभिन्न विद्वान लेखकों द्वारा प्रकाश डाला गया है। संकलित निबन्ध उच्चकोटि के हैं एवं ग्रंथ संग्रहणीय है।

■

पुस्तक – हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, भाग – २
लेखक – डॉ० शितिकण्ठ मिश्र
प्रकाशक – पार्श्वनाथ शोधपीठ, ग्रंथमाला सं० ६६
आकार – सजिल्ड डिमाई, प्रथम संस्करण – १९६४
पृष्ठ – ६८४, मूल्य – रु० १८०.०० मात्र।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जैन लेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। हिन्दी जैन साहित्य विशाल है। आदिकाल से लेकर १६वीं शती (विक्रम) तक लगभग ७०० पृष्ठों का एक भाग संस्थान से पहले ही प्रकाशित हो चुका है। इस द्वितीय भाग में मरुगुर्जर पुरानी हिन्दी के १६ शताब्दी के जैनकवियों एवं उनकी

रचनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें लगभग ४०० जैन कवियों और उनकी लगभग १००० कृतियों का परिचय दिया गया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में ३० पृष्ठों के उपोद्घात में कुछ मुख्य विषयों, यथा – १७वीं शताब्दी की राजनीतिक स्थिति, मुगल साम्राज्य की स्थापना, अकबर का शौशव, साम्राज्य विस्तार, शासन-व्यवस्था, आर्थिक-सामाजिक स्थिति, शिक्षा, अकबर की धार्मिक नीति, हीर विजय सूरि और सम्राट अकबर, जहाँगीर का जैनधर्म से सम्बन्ध, सांस्कृतिक समन्वय, कला, साहित्य आदि पर प्रकाश डाला गया है।

जैन कवियों का हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जो अवदान है वह अभी हिन्दी के विद्वानों को प्रायः अज्ञात ही रहा है। प्रस्तुत कृति के अवलोकन से वे हिन्दी साहित्य में जैन कवियों के अवदान का सम्यक् मूल्यांकन कर सकेंगे, ऐसा विश्वास है। प्रस्तुत कृति के लेखक जो हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं, ने अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक इन कवियों की कृतियों के उल्लेख के साथ उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। कृति श्रेष्ठ एवं पुस्तकालयों के लिए संग्रहणीय है।



पुस्तक – मातृकापदशृंगाररसकलितगाथाकोश

लेखक – आचार्य वीरभद्र, अनुवादक – श्री भँवरलाल जी नाहता

सम्पादक – डॉ० सागरमल जैन, आकार – डिमाई पेपरबैक

प्रथम संस्करण – १९९४, पृष्ठ – १८+७, मूल्य – ₹० १५.०० मात्र।

जैन विद्वानों ने न केवल संस्कृत में अपितु प्राकृत एवं मरुगुर्जर में भी शृंगाररसपरक अनेक कृतियों का सृजन किया है। अनेक कृतियों में शृंगाररस का सरस वर्णन है, फिर भी निवृत्तिमार्गी अपनी मूल परम्परा के अनुरूप जैन कवियों ने शृंगारपरक रचनाओं का उपसंहार सदैव शान्तरस (वैराग्य) में ही किया है।

आचार्य वीरभद्र की 'मातृकापदशृंगाररसकलितगाथाकोश' विशुद्ध रूप से एक शृंगाररसपरक रचना है। किन्तु जैसा कि जैन कवियों ने शृंगार की अभिव्यक्ति में भी सदैव एक मर्यादा का अनुपालन किया है, प्रस्तुत कृति में भी आचार्य वीरभद्र ने मर्यादा अतिक्रमण को वर्ज्य मानते हुए न व्यभिचार, न अभिसार मात्र विरह व्यथा का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है।

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद अभी तक अनुपलब्ध था। जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान श्री भँवरलाल जी ने एक विस्तृत भूमिका सहित इसका लिप्यन्तरण एवं अनुवाद किया। अनुवाद अत्यन्त सजीव व बोधगम्य है।

कृति उत्तम एवं संग्रहणीय है।



जैन जगत्

विश्वशान्ति के लिए जैन संत श्री सहज मुनि के २०१ उपवास

महान जैनसंत श्री सहज मुनि जी गत २२ जून १९९४ से विश्वशांति के लिए बम्बई के खार उपनगर में उपवास (तप) कर रहे हैं। आगामी ८ जनवरी १९९५ को मुनिश्री के उपवास का २०१वां दिन होगा। बम्बई में उसी दिन अखिल भारतीय स्तर पर 'तपपूर्ति - महोत्सव' आयोजित किया जा रहा है।

संत श्री सहजमुनि ने जैन समाज के सभी सम्प्रदायों में तपस्या का एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। आप घोर तपस्वी श्री फकीरचन्द जी के योग्य शिष्य हैं। परमज्ञानी श्री मुनिजी ने आत्मशुद्धि के लिए तपस्या को मुख्य लक्ष्य बनाया। तपस्या के साथ-साथ आप में शांति एवं सौम्यता का अद्वितीय संगम है। आपने निर्विघ्न तपस्या करके कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर जिन शासन को गौरवान्वित किया है।

जैन दिवाकर दीक्षा शताब्दी समारोह

स्थानकवासी समाज के वरिष्ठ संत पूज्य गुरुदेव, प्रसिद्ध वक्ता, जगतवल्लभ जैन दिवाकर श्री चौथमल जी म० सा० एवं पूज्य आचार्य श्री खूबचन्द जी म०सा० का दीक्षा शताब्दी वर्ष २०५२ से प्रारम्भ हो रहा है। शताब्दी का आयोजन दिनांक २.४.९५ को रतलाम से किया जा रहा है। इस उपलक्ष्य में जैन दिवाकर स्मारक, सागोद रोड़, रतलाम में अखिल भारतीय स्तर पर एक वृहद् समारोह का आयोजन भी किया जा रहा है। माननीय मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश शासन, समारोह के मुख्य अतिथि होंगे। उक्त अवसर पर श्रमण संघीय सलाहकार उपाध्याय श्री मूलचन्दजी म० सा० एवं श्रमण संघीय सलाहकार तपस्वीराज श्री मोहनमुनि म०सा० का अभिनन्दन किया जायेगा तथा साथ ही 'जैनदिवाकर चिकित्सालय एवं रिसर्च सेण्टर' के भव्य भवन का उद्घाटन भी किया जायेगा।

श्रीमती रसकुंवर देवी सूर्या का निधन

श्री अ०भा० साधुमार्गीय जैन महिला समिति की पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष श्रीमती रसकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व० श्री गोकुलचंद जी सूर्या का ६० वर्ष की अवस्था में १ दिसम्बर १९९४ को उज्जैन में अल्प बीमारी के बाद संथारापूर्वक देहावसान हो गया।

उनके निधन से विभिन्न सामाजिक संगठनों, लोकोपकारी संस्थाओं, धार्मिक संघों आदि क्षेत्रों को गहरी क्षति पहुँची है।

धार्मिक शिक्षण शिविरों का भव्य आयोजन

श्री दक्षिण भारतीय जैन स्वाध्याय संघ के तत्त्वावधान में मद्रास के विभिन्न जैन संघों की सहायता से ग्रीष्मकालीन धार्मिक शिक्षण शिविरों का भव्य आयोजन ११ अप्रैल १९६५ से ५ जून १९६५ तक किया जा रहा है। ये शिविर मद्रास के लगभग २० अलग-अलग स्थानों पर आयोजित किये जा रहे हैं। शिविरार्थियों के लिए आकर्षक पुरस्कारों की भी योजना है। ज्ञानाराधन के इस पुनीत कार्य के लिए "श्री दक्षिण भारत जैन स्वाध्याय संघ" को 'श्रमण' की तरफ से बधाई।

शिविर के लिए इच्छुक व्यक्ति जानकारी हेतु सम्पर्क करें -

श्री निर्मल मेहता

३४८, मिण्ट स्ट्रीट,

साहूकारपेट, मद्रास - ७६.

दूरभाष - ५८१५४६.

श्रीमती कमला मेहता

४, रमनन रोड,

साहूकारपेट, मद्रास - ७६.

दूरभाष - ५२२५५७.

महावीर पुरस्कार वर्ष १९६५

जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई राम सिंह रोड, जयपुर - ४ द्वारा महावीर पुरस्कार के लिये जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक/शोधप्रबन्ध की चार प्रतियाँ दिनांक ३० सितम्बर १९६५ तक आमन्त्रित की जाती हैं। इस पुरस्कार में ११००१ रुपए एवं एक प्रशस्तिपत्र प्रदान किया जाएगा। पुस्तकें ३१ दिसम्बर १९६९ के पश्चात् ही प्रकाशित होनी चाहिए। अप्रकाशित कृतियाँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनकी तीन फोटोस्टेट/टंकित प्रतियाँ सजिल्द अपेक्षित हैं।

संस्थान द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी में वर्ष १९६५ के "स्वयम्भू पुरस्कार" के लिए अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं की चार प्रतियाँ ३० सितम्बर, १९६५ तक आमन्त्रित हैं, जो ३१ दिसम्बर १९६६ से पूर्व प्रकाशित या पुरस्कृत नहीं होनी चाहिए। "स्वयम्भू पुरस्कार" में ५००१ रुपये नकद एवं एक प्रशस्तिपत्र प्रदान किया जायेगा।

संयोजक

कमलचंद सोगानी

Annual Awards Presentation at

NATIONAL SEMINAR

AHIMSA INTERNATIONAL is organising a National Seminar on "Animal -- Base of Indian Economy & Animal and Environment" from 9.00 A.M. to 6.00 P.M. on Saturday, 7 May, 1995 in Conference Hall of FICCI Federation House, 3rd floor, Tansen Marg, New Delhi -- 110 001.

On this occasion the Annual Awards will be presented in the inauguration session of the Seminar to the under mentioned Awardees.

1. Dr. Sagar Mal Jain, Director Parshwanath Research Institute, Varanasi.

Ahimsa International Deputy Mal Jain Award for Literature.

2. Shri L.N. Modi, Managing Trustee, Bharatiya Cattle Resource Development Foundation, New Delhi.

Ahimsa International Lada Devi Sethi Award for Animal Protection & Vegetarianism.

3. Shri Kesrichand Mehta, Executive Chairman, All India Krishi Gausewa Sangh, Malegaon.

Ahimsa International Bhagwan Dass Shobha Lall Jain Award for Animal protection and vegetarianism.

4. Shri Shri Pal Jain 'Diwa', Bhopal.

Ahimsa International Raghubeer Singh Jain Award for Animal protection & Vegetarianism.

5. Shri Sukhlal Jain 'Suman' Golechha, Rajnandgaon.

Ahimsa International Bhagwan Dass Shobha Lall Jain Award for Animal Protection & Vegetarianism.

Mukha Raj Jain

President

Adishwar Lal Jain

Chairman, Reception
Committee

Satish Kumar Jain

Secretary General

**Statement About Ownership & Other Particulars
of the Paper**

ŚRAMANA

1. Place of Publication : Pārśvanātha Vidyāpīṭha
I. T. I. Road, Varanasi - 5
2. Periodicity of Publication : First week of English Calender
month.
3. Printer's Name, Nationality : Dr. Sagarmal Jain
and Address : Indian
Divine Printers
B. 13/44, Sonarpura, Varanasi.
4. Publisher's Name : Dr. Sagarmal Jain
Nationality and Address : Indian
Pārśvanātha Vidyāpīṭha
I. T. I. Road, Varanasi - 5
5. Editor' Name, Nationality : As above
and Address
6. Names and Address of : Shri Sohanlal Smaraka
Individuals who own the Pārśvanātha Vidyāpīṭha,
Paper and Partners or Guru Bazar, Amritsar.
share-holders holding (Registered under Act XXI as
more than one percent of 1860).
the total capital.

I, Dr. Sagarmal Jain hereby declare that the particulars given above are true to the best of the my knowledge and belief.

Dated 1-4-1995

Signature of the Publishers

S/d Dr. Sagarmal Jain

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.



ONLY NUWUD.[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

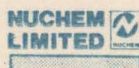
DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

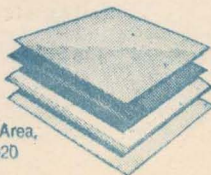
VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications



E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones: 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748



IS 12496



*The one wood for
all your woodwork*

MARKETING OFFICES: • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219
• BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549
• CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679
• HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087
• KATHMANDU: 225504, 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121